amaj Foundation Chen

जैन कहानी की शाखा-नगर

डॉ० महेन्द्र

R
0
1
7
3
3

ain. Gurukul Kangri C

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जे० कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन

R
०८१
१३३

डॉ० महादेव राम विश्वकर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029
933

103179

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

103179

०८१
१३३

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या..... आगत संख्या 103179

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

103156

KRISHNAMURTI FOUNDATION INDIA
UTTARKASHI EDUCATION CENTRE

BOOK DISTRIBUTION UNIT
2nd Floor Munilal Vohra Bldg
Near State Bank of India
Chitra Cinema Street
Haridwar-249401

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

DONATION

जे० कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन

103179

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

डॉ० महादेव राम विश्वकर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०
सैदपुर, गाजीपुर

प्रज्ञा एवं दिव्या प्रकाशन
सैदपुर, गाजीपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :

प्रज्ञा एवं दिव्या प्रकाशन
सैदपुर, गाजीपुर (उ० प्र०)

© लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

जुलाई 1996

मूल्य { सजिल्द 120/-
अजिल्द 80/-

0-21
133

मुद्रक :

महेन्द्र कुमार, सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस
एस० 1/208 K-1, नईबस्ती, पाण्डेयपुर, सारनाथ रोड
वाराणसी, फोन—385432

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन की बात

जिद्दू कृष्णमूर्ति बीसवीं शताब्दी के निस्संदेह महान् दार्शनिक हैं। परन्तु चिंता की बात यह है कि अपने ही देश में उनके दार्शनिक विचारों के महत्त्व का उचित आकलन नहीं हो पा रहा है। इसका एक कारण शायद यह हो सकता है कि उनकी बातें लोगों को अव्यवहारिक लगती हों। परन्तु मेरी दृष्टि में कृष्णमूर्ति का दर्शन वास्तव में जीवन-दर्शन है, जो आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत हैं। वह हमें अपने को जानने-समझने में बहुत ही सहायक है तथा इस दिशा में प्रवृत्त होने से हमें शांति, सौम्यता, करुणा तथा प्रेम जैसे उदात्त मानवीय गुणों से कुछ न कुछ संयुक्त होने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। कृष्ण जी के दर्शन का सचेत पाठक—अनुयायी लौकिक अर्थ में असफल प्रतीत हो सकता है, परन्तु वह आध्यात्मिक विभूतियों की सम्पन्नता से वंचित नहीं रह सकता। चूंकि जे० कृष्णमूर्ति आत्मज्ञान पर विशेष बल देते हैं और लौकिक-भौतिक सफलता को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते, शायद इसीलिए उनके दार्शनिक विचारों की उपेक्षा की जा रही है।

जे० कृष्णमूर्ति का साहसी और क्रान्तिकारी दार्शनिक चिंतन अद्वैत वेदान्त और बौद्ध-दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण बातों में निकटस्थ है। इस तरह उनकी विचारधारा भारतीय दार्शनिक मनीषा से विच्छिन्न नहीं है।

कृष्ण जी की भाषा एवं विचार-शैली बड़ी मनोहारी है। उनको पढ़ने-सुनने में बड़ा ही आनन्द मिलता है, क्योंकि हम न केवल दार्शनिक को पढ़ रहे होते हैं, अपितु कवि और सन्त को भी। मैंने तो उनकी पुस्तकों को गीता, रामायण, महाभारत की भाव दशा में पढ़ा।

जिद्दू कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन उनकी दार्शनिक जीवन-दृष्टि का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। उनकी इस विषय से संबंधित अनेक सुन्दर पुस्तकें हैं। इनमें उन्होंने विचार किया है कि वस्तुतः शिक्षा क्या है, इसका प्रयोजन क्या है? शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय आदि संबंधित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयों पर हम उनके मौलिक क्रान्तिकारी, सारगर्भित और उदात्त विचारों एवं अन्तर्दृष्टियों से अवगत होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० महादेव राम विश्वकर्मा के पी-एच० डी० शोध प्रबंध का प्रतिफलन है। डॉ० विश्वकर्मा ने यह शोध-प्रबंध मेरे निर्देशन में तैयार किया। वह लगभग तीस वर्षों से एक इण्टरमीडिएट कालेज में प्रवक्ता पद पर शिक्षण कार्य कर रहे हैं। परिणामतः वह शिक्षा, शिक्षक, विद्यार्थी और विद्यालय की भूमिकाओं और समस्याओं से निकट का संबंध रखते हैं। इसके अतिरिक्त श्री महादेव राम की कृष्ण जी के दर्शन में बड़ी गहरी रुचि रही है। उन्होंने बसंत महा-विद्यालय राजघाट, वाराणसी में कृष्णमूर्ति जी के कई व्याख्यान सुने और उनकी पुस्तकों का मनोयोगपूर्वक वर्षों अध्ययन किया। इन बातों का परिणाम यह रहा कि "जे० कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन" विषय पर डॉ० विश्वकर्मा ने अच्छा शोध-कार्य किया। मुझे विश्वास है पाठक इस पुस्तक में कृष्ण जी के दार्शनिक-साहित्य का विस्तृत अध्ययन, उनकी बातों की समझदारी शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर उनके विचारों का विशुद्ध विवेचन पा सकेंगे।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि डॉ० महादेव राम विश्वकर्मा की यह प्रथम पुस्तक प्रकाश में आ रही है।

डॉ० रमेशकुमार त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन-शास्त्र–विभाग, काशी विद्यापीठ; वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय की बात

सत्य को जानने की जिज्ञासा मेरे अचेतन मन में बचपन से ही रही है। विज्ञान एवं गणित जैसे वस्तुनिष्ठ विषयों का अध्ययन एवं अध्यापन करते हुए, सत्य की जिज्ञासा के साथ विभिन्न प्रकार के साधु-सन्तों की संगति में जाया करता था। इसी सन्दर्भ में मेरे हाथ जब ओशो रजनीश का साहित्य लगा, तो उनके प्रवचनों एवं ध्यान-पद्धति में मेरी रुचि बढ़ती गई और मैंने उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकार कर लिया। ओशो अपने प्रवचनों में प्रसंगवश जे० कृष्णमूर्ति का नाम भी लिया करते थे तथा उन्हें एक संबुद्ध पुरुष का आदर देते थे उससे मुझे जे० कृष्णमूर्तिजी की कृतियों एवं वार्ताओं को पढ़ने तथा उन्हें सुनने की उत्सुकता हुई। कृष्णमूर्ति जी जब भी कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, राजघाट, वाराणसी में अपनी सार्वजनिक सभायें करते, मैं उनमें उपस्थित होता और उनके विचारों को ध्यानपूर्वक सुना करता था। इससे प्रेरित होकर कृष्णमूर्ति जी की शिक्षाओं पर प्रोफेसर रमेशकुमार त्रिपाठी के निर्देशन में मैंने शोध-कार्य पूरा किया, जो पुस्तक के रूप में इस समय आपके समक्ष प्रस्तुत है।

"जे० कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन" हमारे, आपके और सभी के जीवन का दर्शन है। मानव मन की चेतन एवं अचेतन गहराइयों में जो कुछ छिपा है, उसे उजागर करना तथा उसका दर्शन करना ही इस दर्शन की विशेषता है। कृष्णमूर्ति कहा करते थे कि मैं आप लोगों के लिए मार्गदर्शक या गुरु नहीं हूँ, अपितु आप के जीवन के लिए मैं एक दर्पण का कार्य कर रहा हूँ जिसमें आप जैसे भी हैं स्वयम् को देख सकते हैं। कृष्णमूर्ति जी का शिक्षा-दर्शन सभी आदर्शों, सिद्धान्तों, परिकल्पनाओं एवं प्रतिबद्धताओं से दूर हटकर हमारे वास्तविक जीवन की गम्भीर समस्याओं जैसे, मृत्यु, भय, हिंसा, क्रोध आदि के मूल कारणों का पता लगाने में हमारी सहायता करता है तथा हम वास्तव में क्या हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहराई से जानने के लिए प्रेरित करता है। कृष्णमूर्ति जी का सम्पूर्ण दर्शन हमें यह बताता है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य है अपने को जानना अर्थात् आत्मज्ञान और यह आत्मज्ञान स्वपरक न होकर विश्वपरक है। इस सत्य की खोज ही जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। इसी में हमारी सभी मानवीय समस्याओं का निदान छिपा है और इसी के माध्यम से नूतन विश्व की संरचना हो सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक शिक्षा एवं दर्शन जैसे विषयों से शैक्षणिक रूप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़े हुए लोगों के लिए जे० कृष्णमूर्ति के जीवन-दर्शन विशेष रूप से उनके शिक्षा-दर्शन को समझने में सहायक सिद्ध होगी। ऐसे लोग जो सत्य एवं जीवन की आत्यंतिक गहराइयों तक जान लेने को उत्सुक हैं उनके लिए भी यह पुस्तक पथ के प्रदीप जैसा कार्य कर सकती है ऐसा मेरा निश्चित मत है।

अब मैं अपने शिक्षक एवं निर्देशक डॉ० रमेशकुमार त्रिपाठी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिनके सफल निर्देशन में यह असंभव प्रतीत होने वाला कार्य सरलता से सम्पन्न कर लिया गया। कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन आफ इण्डिया, राजघाट, वाराणसी के श्री हरीश जी के अतिरिक्त राजघाट शिक्षा संस्थान के रेक्टर प्रोफेसर पी० कृष्णा का भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरे इस कार्य की सराहना इन शब्दों में की—"डॉ० महादेव राम विश्वकर्मा द्वारा प्रस्तुत पुस्तक 'जे० कृष्णमूर्ति का शिक्षा-दर्शन' जे० कृष्णमूर्ति एवम् उनकी शिक्षाओं को समझने के लिए एक विवेकपूर्ण प्रयास है।" अंत में, मैं इस पुस्तक के प्रकाशक **प्रज्ञा एवं दिव्या** को धन्यवाद देता हूँ। सुन्दर छपाई एवं आकर्षक प्रस्तुति के लिए सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस को भी धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ।

महादेव राम विश्वकर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका : भू०-1-भू०-24

शिक्षा-दर्शन, शिक्षा-दर्शन का स्वरूप, आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन, यथार्थवादी शिक्षा-दर्शन, प्रकृतिवादी शिक्षा-दर्शन, प्रयोजनवादी शिक्षा-दर्शन, परम मुक्ति-वादी शिक्षा-दर्शन।

जे० कृष्णमूर्ति का जीवन-परिचय, जे० कृष्णमूर्ति का व्यक्तित्व एवं उनके विविध रूप—करुणामय कल्याण मित्र, संबुद्ध संत।

जे० कृष्णमूर्ति का महत्त्व।

जे० कृष्णमूर्ति का दर्शन : 1-56

प्रथम अध्याय : दर्शन
द्वितीय अध्याय : मानवीय मन की समस्याएँ
तृतीय अध्याय : सत्य की सत्ता
चतुर्थ अध्याय : आत्मज्ञान
पंचम अध्याय : ज्ञान और प्रज्ञा
षष्ठ अध्याय : ध्यान
सप्तम अध्याय : कृष्णमूर्ति-दर्शन में अन्य विचार।

शिक्षा-दर्शन, भाग—1 57-107

प्रथम अध्याय : शिक्षा और दर्शन
द्वितीय अध्याय : जे० कृष्णमूर्ति की शैक्षिक विचारधारा
तृतीय अध्याय : शिक्षा का उद्देश्य
चतुर्थ अध्याय : शिक्षा के कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ संख्या

शिक्षा-दर्शन, भाग—2 108–189

प्रथम अध्याय : शिक्षा में शिक्षण संस्थाओं की भूमिका।

द्वितीय अध्याय : शिक्षा में शिक्षकों की भूमिका।

तृतीय अध्याय : शिक्षा में छात्रों का दायित्व।

चतुर्थ अध्याय : शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व।
जीवन में शिक्षा की महत्ता,
शिक्षा का सम्यक् स्वरूप,
प्रज्ञा सत्ता एवं सम्यक् बुद्धि,
शिक्षा और विश्व शांति,
विद्यालय,
अभिभावक एवं अध्यापक,
शिक्षा एवं कामवृत्ति तथा विवाह,
कला, सौन्दर्य एवं सर्जन।

उपसंहार : 190–204

सत्य की अवधारणा, गुरु की सत्ता, धार्मिक सत्ता, परंपरा की सत्ता, आप्त वचनों तथा पोथियों की सत्ता, राजनैतिक सत्ता, ध्यान आत्मज्ञान का साधन है, शिक्षा के आधार; शिक्षक, शिक्षार्थी एवं शिक्षण संस्थाएँ, वर्तमान संकट एवं विश्व-शांति।

चयनित पुस्तक-सूची : 205–207

★

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड—

भूमिका

शिक्षा दर्शन :

शिक्षा एवं दर्शन का संबंध शरीर एवं चेतना के समान है। जिस प्रकार शरीर के बिना चैतन्य प्रकट नहीं होता, और चेतना के बिना शरीर का कोई अर्थ नहीं रह जाता, उसी प्रकार दर्शन, शिक्षा के माध्यम से ही अपने को प्रकट करता है तथा शिक्षा, दर्शन के बिना निष्प्राण है। शिक्षा एवं दर्शन के बीच एक गहरा संबंध है, इसलिए इन दोनों ही विषयों के संयोजन से "शिक्षा दर्शन" नामक विषय का विकास हुआ। दर्शन मानव जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है और शिक्षा उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इस प्रकार शिक्षा एवं दर्शन में साधन और साध्य का संबंध होता है। शिक्षा-दर्शन, दर्शन का वह भाग है जो जीवन एवं शिक्षा के लक्ष्य को निश्चित करता है और साथ ही साथ शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करता है, उनका हल ढूंढता है और शिक्षा की प्रक्रिया को निर्धारित करता है। शिक्षा और उसकी समस्याओं के प्रति दर्शन के दृष्टिकोण को ही शिक्षा-दर्शन कहते हैं। शिक्षा-दर्शन एक ऐसा विषय है जो दर्शन के दृष्टिकोण से शिक्षा के समस्त कार्यों, क्रियाओं, समस्याओं आदि का अध्ययन करता है तथा समस्याओं का समसामयिक समाधान प्रस्तुत करते हुए शिक्षा की प्रक्रिया को उचित दिशा में मोड़ देता है।

शिक्षा-दर्शन का स्वरूप :

चिंतन-मनन मानव जीवन की अति प्राचीन प्रक्रिया है। कालचक्र की गति के अनुरूप मनुष्य के चिंतन-मनन की विषयवस्तु में परिवर्तन होने के कारण उसका दर्शन भी प्रभावित होता रहा है। जीवन-दर्शन एवं दार्शनिक आधार में परिवर्तन होने के कारण शिक्षा-दर्शन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप में भी परिवर्तन होते रहें हैं। जब-जब समाज में व्याप्त रूढ़ियों ने मानव जीवन को अँधेरे में ढकेलने की कोशिश की, तब-तब तत्कालीन विचारकों, चिंतकों एवं समाज सुधारकों ने समय की माँग के अनुसार अपने विचारों में एक मोड़ दिया और तदनुरूप शिक्षा के स्वरूप में भी परिवर्तन आता गया। कुछ प्रमुख शिक्षा-दर्शन की झलक नीचे दी जा रही है।

आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन :

आदर्शवाद को विचारवाद भी कहा जाता है। आदर्शवाद एक ऐसी विचार धारा है जो मानसिक एवं आध्यात्मिक सत्ता को भौतिक सत्ता की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है। यही कारण है कि ऐसी विचारधारा वाले लोगों को मनवादी या आदर्शवादी भी कहते हैं। आदर्शवादी दर्शन वस्तुओं की अपेक्षा विचारों, भावों तथा आदर्शों को अधिक महत्त्व देता है और आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य मानता है। यह दर्शन आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि को भौतिक जगत् से अलग देखता है और ऐसा मानता है कि आध्यात्मिक जगत् ही सत्य तथा यथार्थ है और भौतिक जगत् जैसे-देह आदि, नश्वर और क्षणिक है। आदर्शवाद दर्शनशास्त्र की अति प्राचीन विचारधारा है। भारत में आदर्शवाद के जनक जंगलों में रहने वाले प्राचीन ऋषि-मुनि रहे हैं, जो जंगलों में ही निर्मित अपने आश्रमों में आने वाले जिज्ञासुओं को अपनी दार्शनिक विचार धाराओं से अवगत कराते रहे तथा उन विचार धाराओं का उन्हीं के माध्यम से प्रचार-प्रसार भी किया करते थे। पाश्चात्य जगत् में इस विचारधारा का सूत्रपात सुकरात एवं प्लेटों से आरंभ हो गया था। परन्तु आधुनिक युग के आदर्शवादी दार्शनिकों में लाइबनिट्ज, बर्कले, कांट, हीगेल आदि प्रमुख हैं, जिन्होंने आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन को प्रोत्साहित किया।

यथार्थवादी शिक्षा-दर्शन :

आदर्शवाद मन, आत्मा एवं ब्रह्म जैसी अभौतिक वस्तु के चिंतन पर ही अधिक बल देता रहा, जो मात्र बौद्धिक चिंतन का विषय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव जीवन की भौतिक समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम जा रहा था, जबकि रोटी, कपड़ा, मकान आदि प्रमुख जीवनोपयोगी वस्तुओं से शरीर को सँवारने और जीवन का आनन्द लेने को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा। समाज के कुछ चिंतकों ने आदर्शवाद के विपरीत जीवन के यथार्थ को अपने चिंतन का विषय बनाकर यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। यथार्थवादी दर्शन को आदर्शवाद का पूरक माना जा सकता है। यथार्थवादियों के अनुसार इन्द्रियग्राह्य भौतिक पदार्थ ही वास्तविक हैं। जिन पदार्थों का अनुभव हमारी इन्द्रियों के द्वारा होता है, उन्हीं पदार्थों की वास्तविक सत्ता है। आध्यात्मिक सत्ता का उनके लिए कोई मूल्य नहीं रहा। यथार्थवाद का अर्थ उस सिद्धान्त एवं विश्वास से है जो जगत् को जैसा वह दिखायी पड़ता है, उसे वैसा ही स्वीकार करता है। मानव-शरीर भौतिक जगत् का ही अंग है तथा मन भौतिक शरीर का ही सूक्ष्म अंग है। अतः शरीर में ही मन की सत्ता है, मन एवं शरीर कोई पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। यथार्थवादियों के अनुसार मन सूक्ष्म शरीर है जो इन्द्रियों के माध्यम से शरीर को नियंत्रित करता है और शरीर भौतिक जगत् का हिस्सा है। अतः सब कुछ भौतिक जगत् में ही समाया हुआ है, भौतिक जगत् से परे कोई सत्ता नहीं है। यथार्थवादी, चेतना को भी भौतिक ही मानता है। उसका कहना है कि जिस प्रकार खैर एवं चूने के मेल से लाल रंग स्वतः उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार चेतना भी भौतिक तत्त्वों के मेल से ही शरीर में उत्पन्न हो जाती है। भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन, कुछ सीमा तक सांख्य दर्शन, यथार्थवादी दर्शन है। पाश्चात्य जगत् में कुछ ग्रीक दार्शनिक, बेकन, डेकार्ट (आंशिक रूप में), लाक (आंशिक रूप में), मूर आदि यथार्थवादी दार्शनिक हैं। वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के विकास ने यथार्थवादी विश्व की रचना के मूल में प्रकृति की सत्ता को तथा इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को प्राथमिकता दी। यथार्थवाद ने मनुष्य को बुद्धि एवं विवेक द्वारा वास्तविकता को समझने के लिए प्रेरित किया और स्वतंत्र विचारों की भावना जागृत होने के कारण उसने हर एक वस्तु को यथार्थ के तराजू पर तौल लेने का एक मापदण्ड बना लिया। वैज्ञानिक खोजों का सिलसिला यथार्थवादी दर्शन की ही देन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिवादी शिक्षा-दर्शन :

प्रकृतिवाद, भौतिकवाद एवं यथार्थवाद का ही एक मिश्रित रूप है, जो जन-साधारण की स्थिति सुधारने तथा समाज का कल्याण करने से संबंध रखता है। प्रकृतिवाद मनुष्य की प्रकृति को ही धर्म एवं समाज का आधार मानता है तथा मन और चेतना को पदार्थ के ही अधीन मानता है। यह दर्शन इस बात में विश्वास करता है कि अंतिम वास्तविकता भौतिक सत्ता ही है। रूसो ने इस विचारधारा का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर प्रकृतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रकृतिवादी शिक्षा-दर्शन के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो सबसे प्रेम करने, मानव-प्रकृति में विश्वास करने, न्याय की सदा कामना करने तथा प्रकृति को अंतिम सत्ता मानने पर बल देती हो। प्रकृतिवादी दार्शनिकों में रूसो एवं वाल्टेयर प्रमुख हैं।

प्रयोजनवादी शिक्षा-दर्शन :

ऐसी विचारधारा जो किसी मूल्य, विचार, कार्य अथवा सिद्धान्त को इस आधार पर स्वीकार करती हो कि उसकी मानव-जीवन के लिए व्यावहारिकता है, उसकी कोई उपयोगिता है अर्थात् उसमें कोई प्रयोजन या फल छिपा हो तो ऐसी विचारधारा को प्रयोजनवाद या फलवाद कहते हैं। ऐसा शिक्षा-दर्शन जो किसी कार्य का उसके प्रयोजन एवं फल के अनुसार मूल्यांकन करता हो, उसे प्रयोजनवादी शिक्षा दर्शन कहते हैं। प्रयोजनवाद को एक मानवीय दर्शन की संज्ञा दी गई है, जो यह स्वीकार करता है कि मनुष्य, क्रिया द्वारा मूल्यों का निर्माण करता है और यह भी मानता है कि वास्तविकता सदैव निर्माण की अवस्था में रहती है। प्रयोजनवादी ऐसा मानते हैं कि हमें उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि उन वस्तुओं का जिनका हमारे जीवन से संबध है। विलियम जेम्स, शिलर जैसे विचारक इस विचारधारा के पोषक है।

परम मुक्तिवादी शिक्षा-दर्शन :

यह शिक्षा-दर्शन, आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन का अभिनव स्वरूप है, जो सत्य की खोज को ही जीवन का परम उद्देश्य मानता है। इसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतिम परिणति परम मुक्ति है अतः इसे परम मुक्तिवाद भी कहते हैं। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्य परंपराओं, विश्वासों, मतों, सम्प्रदायों तथा धर्मों आदि की परिसीमाओं से मुक्त होकर उस अवस्था को प्राप्त कर ले जहाँ न सुख है न दुःख, अपितु दोनों के पार परमानन्द की अवस्था है। यह दर्शन मानवमन के मूलभूत परिवर्तन में विश्वास करता है तथा मानव मन के इसी परिवर्तन से नूतन संस्कृति एवं नूतन विश्व की रचना करना चाहता है। यह एक ऐसा दर्शन है, जो बाह्य एवं अभ्यंतर में कोई विभाजन रेखा नहीं खींचता। इसकी मान्यता है कि बाह्य एवं अभ्यंतर का विभाजन हमारे मन का ही विभाजन है। शरीर, मन एवं चेतना मूलतः अलग-अलग चीजें नहीं हैं, अपितु वे एक ही हैं। शरीर स्थूल चैतन्य है जबकि चैतन्य सूक्ष्म शरीर है और मन दोनों के बीच की अवस्था है। जिस प्रकार पदार्थ एवं ऊर्जा एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म, बाह्य एवं अभ्यंतर एक दूसरे से अलग नहीं हैं, अपितु संयुक्त हैं। यह दर्शन मनुष्य को स्वयं का बोध प्राप्त करने तथा प्रज्ञा-जागरण पर अत्यधिक बल देता है, क्योंकि जीवन की वास्तविकता को समझने के लिए प्रखर प्रज्ञा की आवश्यकता पड़ती है, और इस प्रज्ञा से अंततः प्रेम, करुणा, दया के भाव उत्पन्न होते हैं। जब मन, बुद्धि एवं हृदय की संपूर्णता से किसी भी मानवीय समस्या का उसकी वास्तविकता में अवलोकन किया जाता है तो वह स्वयं ही सत्य को उद्घाटित कर देता है। जीवन की संपूर्णता को उसके वास्तविक अर्थों में समझना एवं उसके पार चले जाना ही वास्तविक मुक्ति है। चैतन्य की इसी अवस्था में सत्, चित् एवं आनन्द का अनुभव होता है जो जीवन का चरम लक्ष्य है। अभिनव आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन में सभी शिक्षा-दर्शनों का समावेश है, क्योंकि यह दर्शन आत्मा परमात्मा की खोज के साथ-साथ मानवजीवन को सुखमय बनाने के लिए जीवन के संपूर्ण आवश्यक अवयवों को उनकी गहराई तक समझने पर बल देता है।

सत्य का परिसीमन ही जीवन का बंधन है। मुक्ति, बंधन का विपरीत नहीं नहीं है, अपितु तथ्यों को देखना एवं उनके पार चले जाना ही मुक्ति है। स्वयं के अस्तित्व को जानना कि "मैं कौन हूँ"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति का प्रथम सोपान है, और आत्मज्ञान में ही मानवजीवन की संपूर्ण समस्यों का निदान छिपा है। वास्तविक शिक्षा जीवन जीने की ऐसी कला सिखाती है, जिससे मनुष्य अपने मन, बुद्धि एवं अहंकार को उनकी संपूर्णता में समझता है।

परम मुक्तिवादी दार्शनिकों में ओशो रजनीश एवं जे० कृष्णमूर्ति प्रमुख हैं।

जे० कृष्णमूर्ति का जीवन परिचय :

जिद्दू कृष्णमूर्ति का जन्म 11 मई, 1895 में दक्षिण भारत के आन्ध्र-प्रदेश में चित्तूर जिले में स्थित मदनपल्ली नामक स्थान में हुआ था। आपकी माता जिद्दू संजीवम्मा मृदुभाषिणी, धर्मपरायणा, कृष्ण-भक्त महिला थीं तथा पिता जिद्दू नारायनीय एक अवकाश प्राप्त सिविल कर्मचारी के साथ-साथ पुराने थियोसोफिस्ट भी थे। अपने माता-पिता की धार्मिक प्रवृत्ति, माता संजीवम्मा का भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिभाव तथा भगवान् कृष्ण के जन्म के जैसी परिस्थिति में जन्म लेने एवं माता-पिता की आठवीं संतान होने के कारण ये श्रीकृष्ण की प्रतिमूर्ति समझे जाने लगे और जिद्दू कृष्णमूर्ति के नाम से विख्यात हुए। इन्हें लोग प्रेम से "कृष्ण जी" भी कहते हैं।

माता संजीवम्मा का सन् 1905 में देहान्त हो जाने के कारण पिता जिद्दू नारायणीय, बालक जिद्दू कृष्णमूर्ति सहित अपने चार पुत्रों को लेकर श्रीमती एनीबेसेंट के आमंत्रण पर सन् 1908 एवं 1909 के मध्य मद्रास के अड्यार नामक स्थान पर स्थित थियो-सोफिकल सोसाइटी के परिसर में जाकर रहने लगे, और अपनी सेवाएँ सोसाइटी को अर्पित कर दीं।

उन दिनों अड्यार में एक प्रमुख थियोसोफिस्ट श्री सी० डब्ल्यू० लीडबीटर ने, जो पुनर्जन्म एवं परा-मनोविज्ञान पर प्रयोग कर रहे थे, बालक जे० कृष्णमूर्ति में गहरी आध्यात्मिकता के लक्षण देखें। उसी समय थियोसोफिकल सोसाइटी की तत्कालीन अध्यक्षा श्रीमती एनी-बेसेंट ने भी श्री लीडबीटर के समान ही यह स्वीकार किया कि निश्चय ही इस बालक का भविष्य एक महान् आध्यात्मिक शिक्षक के रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व का मार्गदर्शन कर सकता है। थियोसोफिकल सोसाइटी की यह धारणा रही है कि सभी धार्मिक शिक्षकों में एक ही महान् अस्तित्व "प्रभु मैत्रेय" की कृपा सदा से होती रही है, जो प्रत्येक दो हजार वर्ष के अन्तराल पर मानवीय रूप में अवतरित होकर अपने संदेशों द्वारा मानवता का उद्धार करते रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध एवं प्रभु यीशु "प्रभु मैत्रेय" के ही अवतार हैं। बालक जिद्दू कृष्णमूर्ति में "प्रभु मैत्रेय" के आगामी अवतरण को लक्ष्य करके श्रीमती एनी-बेसेंट ने पिता जिद्दू नारायणीय की सहमति से सन् 1909 में जिद्दू कृष्णमूर्ति एवं उनके छोटे भाई नित्यानन्द दोनों को अपने संरक्षण में ले लिया। इस प्रकार बालक जिद्दू कृष्णमूर्ति की आध्यात्मिकता का प्रारंभिक पाठ डॉ० एनीबेसेंट के अक्षय वात्सल्य प्रेम एवं श्री लीड-बीटर के आध्यात्मिक संरक्षण की छाया तले आरंभ हुआ, और उन्होंने बालक के पालन-पोषण एवं शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था कर दी।

जनवरी 1911 में अड्यार में जे० कृष्णमूर्ति की अध्यक्षता में "आर्डर आफ द स्टार इन द ईस्ट" की स्थापना हुई। यह एक ऐसा संगठन था, जिसके सदस्य स्वयं को, साथ ही साथ विश्व को "जगत् गुरु" के आगमन के लिए तैयार करने के प्रति समर्पित थे। श्रीमती एनीबेसेंट एवं श्री लीडबीटर की उस अवधारणा के अनुसार कि सभी धार्मिक शिक्षकों पर महान् अस्तित्व प्रभु मैत्रेय की कृपा होता रही है, जो चुने माध्यम के द्वारा मानवीय रूप में अवतरित हुआ करते हैं, "स्टार इन द ईस्ट" के सदस्यों का दृढ़ विश्वास हो गया था कि कृष्ण-मूर्ति जी ही ऐसे माध्यम हैं, जिन्हें प्रभु मैत्रेय ने अपने आगामी प्रादुर्भाव के लिए चुना है।

कृष्णमूर्ति जी को व्यक्तिगत रूप से शिक्षित करने तथा "जगद्गुरु" के रूप में आने वाली भूमिका के लिए प्रशिक्षित करने हेतु उन्हें छोटे भाई नित्यानन्द के साथ 1911 ई० में इंग्लैण्ड भेजा गया। उन्हें सभी दूषित प्रभावों से दूर रक्खा गया और पूरी तरह से शाकाहारी भोजन द्वारा उन्हें पवित्र बनाये रखा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले उन्हें किसी संस्था में नामांकित किया गया था तथा लंदन विश्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालय की कुछ परीक्षाओं के लिए तैयारी भी कराई गई थी। पहले तो इन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भेजने का विचार हुआ लेकिन थियोसोफिकल सोसाइटी के उस प्रचार को ध्यान में रखते हुए कि "कृष्णमूर्ति जी भविष्य में जगद्गुरु की भूमिका निभायेंगे" थियोसोफिकल सोसाइटी के अधिकारियों का मन हिचक गया और उन्होंने इस विचार को त्याग दिया। अब दोनों भाइयों को व्यक्तिगत रूप से शिक्षित करने की समुचित व्यवस्था की गई, जिसके लिए विशेष प्रकार के शिक्षक नियुक्त हुए जो आध्यात्मिक प्रशिक्षण के साथ-साथ पश्चिमी सभ्यता का भी प्रशिक्षण देने में समर्थ थे। श्री जे० कृष्णमूर्ति जी के व्यक्तिगत शिक्षकों में श्री सी० जिनराज दास, श्री जार्ज अरुण्डेल, श्री लीडबीटर के अतिरिक्त श्रीमती एनीबेसेंट तथा लेडी एमिली लुटयेन्स आदि प्रमुख थे। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान वे इंग्लैण्ड में ही रहे तथा 1920 में पेरिस गये और वहाँ उन्होंने फ्रेंच सीखी। 1921 के शीतकाल में श्रीमती एनीबेसेंट उन्हें वापस अड्यार [मद्रास] ले आई और उसी समय से सार्वजनिक वक्ता के रूप में उनके कठोर जीवन का आरंभ हुआ।

इधर पिता जिद्दू नारायणीय के विचारों में कुछ परिवर्तन होने से, पिता एवं डॉ० एनीबेसेंट के बीच बच्चों के संरक्षण की समस्या को लेकर कुछ तनाव रहा, परन्तु बच्चों ने स्वयं ही पिता का संरक्षण अस्वीकार करके डॉ० एनीबेसेंट के संरक्षण में रहना स्वीकार कर लिया। पिता जिद्दू नारायणीय की यह हार आध्यात्मिक जगत् के लिए वरदान सिद्ध हुई, क्योंकि हो सकता था कि संरक्षण परिवर्तन से कृष्णमूर्ति जी का आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो गया होता और विश्व एक आध्यात्मिक गुरु से वंचित रह जाता।

आध्यात्मिक विकास के लिए "गुरु" की बड़ी महिमा गाई गई है। कृष्णमूर्ति जी का आध्यात्मिक गुरु कौन है? यह एक विवादित प्रश्न है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि कृष्णमूर्ति जी के कोई अदृश्य गुरु अवश्य रहे होंगे, परन्तु कृष्णमूर्ति जी अपनी वार्ताओं में सदा ही गुरु का विरोध करते थे, तथा आध्यात्मिक विकास के लिए गुरु को कोई महत्त्व नहीं देते थे। परन्तु युवावस्था में कृष्णमूर्ति जी ने एक पुस्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखी—"ऐट द फीट आफ द मास्टर"। इस पुस्तक में उन्होंने कहा है, "ये शब्द मेरे नहीं, मेरे गुरु के हैं"। इससे यह ज्ञात होता है कि उनका किसी गुरु के प्रति समर्पण अवश्य रहा होगा। जो कुछ भी हो, यह पुस्तक कृष्णमूर्ति जी के आध्यात्मिक विकास की कुछ जानकारी अवश्य देती है। इसी बीच कृष्णमूर्ति जी के छोटे भाई नित्यानन्द का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे उनके स्वास्थ्य सुधार की दृष्टि से 1922 में उनको साथ लेकर कैलिफोर्निया चले गए। कैलिफोर्निया में लॉस एजेंल्स से लगभग तेरह किलोमीटर दूर मनोरम ओहाई घाटी के "आर्य विहार" नामक स्थान के "पाइन काटेज" में रहने लगे। अगस्त 1922 में "पाइन काटेज" के सामने स्थित एक विशाल पीपर वृक्ष के नीचे उन्हें एक गहरी आध्यात्मिक अनुभूति हुई। इस अनुभूति ने उनके शरीर एवं मन दोनों को बड़ी गहराई से प्रभावित किया। इस घटना की चर्चा मेरी लुटयेन्स ने अपनी पुस्तक "कृष्णमूर्ति द इयर्स आफ अवेकेनिंग" में की है।

ओहाई घाटी में हुई आध्यात्मिक अनुभूति के बाद कृष्णमूर्ति जी के विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन आने लगा। उनका सासांरिक बंधन धीरे-धीरे ढीला पड़ने लगा। परन्तु भाई नित्यानन्द के प्रति उनकी गहरी आसक्ति अब भी विद्यमान थी। 13 दिसम्बर, 1925 को ओहाई में ही भाई नित्यानंद की मृत्यु हो गई। उस समय कृष्ण-मूर्ति जी भारत-यात्रा पर थे। श्री नित्यानन्द की मृत्यु ने उन्हें पूर्णरूपेण रूपान्तरित कर दिया क्योंकि वे ही उनके अंतिम बंधन थे। भाई नित्यानन्द की मृत्यु से उन्हें जो दु:ख हुआ, उससे उन्होंने मानवता के दु:ख-दर्द को बड़ी गहराई से अनुभव किया। सत्य के खोजी को बड़े से बड़ा दु:ख भी आश्चर्यजनक अनुभूतियों से भर देता है और उसमें नवीन शक्ति का संचार करता है। भाई नित्यानंद की मृत्यु से उत्पन्न दु:ख की अनुभूति को व्यक्त करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि "दिव्यता के प्याले में दु:ख भी आश्चर्यजनक हो जाता है। मैंने मानवता के दु:खदर्द के झरने का जल पी लिया है। इससे मुझे बड़ी शक्ति प्राप्त हुई है।" सन् 1931 की स्टार बुलेटिन में अपनी इसी अनुभूति को व्यक्त करते हुए आपका कहना है कि:—

"यदि आप जीवन को सही ढंग से समझते हैं तो मृत्यु भी पूर्णत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए मार्ग प्रशस्त करती है जो परमानन्द है। मैंने बहुत दुःख भोगे हैं, मैं अब उन सभी चीजों से पूर्णतः मुक्त हूँ जो मुझे अततः बाँधे रखतीं। अब मैं अपने परम प्रियतम से संयुक्त हो चुका हूँ। मैं मुक्ति के सागर में प्रवेश कर गया हूँ और वह मुक्ति में ही हूँ।"

लगभग 1926 से ही कृष्णमूर्ति के अनेक अनुयायियों को यह जानकर बड़ी बेचैनी होने लगी कि उनके व्याख्यानों एवं वार्ताओं में विषयवस्तु का स्वरूप ही बदल गया है। इतने दिनों से "थियोसाफिकल सोसाइटी" तथा "आर्डर आफ द स्टार" के लोग उन्हें जिस ढाँचे के संचालन के लिए तैयार कर रहे थे, कृष्णमूर्ति उसी ढाँचे पर प्रहार करने लगे, तथा गुरु एवं सम्प्रदाय के बिल्कुल विरोधी हो गए। इधर कृष्णमूर्ति जी ऐसा अनुभव करने लगे कि "आर्डर आफ द स्टार" के लोग उन्हें गुरु की भाँति चाहने लगे हैं, जो उनके लिए एक नवीन बंधन बनता जा रहा है। यद्यपि उनके मार्गदर्शन में विकसित होते हुए संगठन "आर्डर आफ द स्टार" को भारी धन, सम्पदा तथा भूमि अर्पित की गई, संसार के विभिन्न भागों से लोग उनके निकट आने लगे, पर कालक्रम में उन्हें गहरे से गहरा बोध होता गया कि सत्य की खोज में संगठन बाधक है। हालैण्ड में प्रदत्त 5000 एकड़ भूमि के समीप "ओमेन स्टार कैम्प" में 3 अगस्त 1929 को श्रीमती एनीबेसेंट एवं 3000 से अधिक स्टार सदस्यों की उपस्थिति में 18 वर्षों पूर्व स्थापित संगठन "आर्डर आफ द स्टार इन द ईस्ट" को उन्होंने भंग कर दिया, जिससे हजारों लोगों को भारी आघात पहुँचा। इस अवसर पर उन्होंने कहा :—

"सत्य एक पथहीन भूमि है, किसी भी धर्म किसी भी संप्रदाय से आप वहाँ पहुँच नहीं सकते····· कोई भी मेरा शिष्य नहीं · ···कोई भी अन्य व्यक्ति आपको स्वतंत्र नहीं कर सकता।"[1]

संगठन को भंग करने के उपरान्त उन्हें प्रदत्त विशाल धन एवं भूमि उनके दाताओं को लौटा दी गई। कृष्णमूर्ति ने थियोसोफिकल

1. जे० कृष्णमूर्ति–परिचय और रचनाएँ (एक बुकलेट) : कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोसाइटी तथा उसके पूर्वाग्रहों से सदा के लिए संबंध तोड़ दिया और सभी संगठनों की सदस्यता से त्यागपत्र देकर वे अकेले ही मानवता का दुःख-दर्द दूर करने निकल पड़े।

"आर्डर आफ द स्टार" संगठन के भंग होने पर विश्व भर में इसकी सम्मिलित प्रतिक्रियाएँ हुई। कुछ लोगों ने इसकी सराहना की, तो कुछ लोगों को निराशा हुई। एक समाचार पत्र के संवाददाता ने जब कृष्णमूर्ति जी से पूछा, "अब इसके बाद आप क्या करेंगे, आप कैसे जीवन यापन करेंगे ? अब आपके अनुयायी नहीं होंगे। लोग अब आगे आपको नहीं सुनेंगे ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा :—

"यदि सुनने वाले केवल पाँच ही लोग हों, जो सुने और जिएँ और उनके चेहरे शाश्वत की ओर मुड़े हों तो काफी है। ऐसे हजारों लोगों के होने का क्या लाभ यदि वे समझते ही न हों, यदि वे पहले से ही पूर्वाग्रहों से चिपके हों, जो नये को न चाहते हों, बल्कि जो अपने बंजर एवं जड़ अहं के मुताबिक ही नये का भी अर्थ लगा लेते हों।"[1]

सत्य की अनुभूति के साथ प्रेम एवं करुणा का उदय होता है। ऐसा व्यक्ति स्वाभाविक रूप से लोगों को मुक्ति की ओर जाने की प्रेरणा देता है और वही उसके जीवन का उद्देश्य भी होता है। इसीलिए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"मेरा एक मात्र कार्य है लोगों को बिना शर्त पूर्णतः स्वतंत्र करना।"[2]

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कृष्णमूर्ति ओहाई (कैलिफोर्निया) में रहे। उसके बाद जीवनपर्यन्त वे पूरी दुनियाँ का भ्रमण करते रहे, उत्कटता से सार्वजनिक वार्ताएँ देते रहे, सभी देशों के लोगों से विवेचनायें करते रहे, गुरु के रूप में नहीं वरन् सत्य के लिए अगाध प्रेम लिए हुए पथ-प्रदर्शक मित्र की भाँति।

---

1. परिसंवाद, अंक 5, पृ० 5, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया।
2. वही, अंक 5, पृ० 5,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति ऐसे महान् विशिष्ट सत्यान्वेषी हैं, जिनकी महत्ता सदा के लिए बनी रहेगी। संसार के विभिन्न भागों में आयोजित उनकी वार्ताएँ सुनने हजारों लोग एकत्र होते थे। भारत इंग्लैण्ड और अमेरिका में कृष्णमूर्ति ने विशेष ढंग के स्कूल स्थापित किए जहाँ लगभग प्रत्येक वर्ष वे स्वयं जाते थे। युवा एवं वृद्ध सभी तरह के लोग समान रूप से कृष्णमूर्ति की पावन उपस्थिति, सौन्दर्य, प्रशान्तता और अगाध करुणा से उनके निकट खिंच आते थे। आहत मन को वे स्वस्थ बना देते, तथा मन को पीड़ा-मुक्त कर देते थे। "आपकी भूमिका क्या है ?" इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा :—

"आपके जीवन के लिए मैं एक दर्पण का कार्य कर रहा हूँ, उसमें आप जैसे भी हैं, स्वयं को देख सकते हैं और तब आप दर्पण को फेंक दे सकते हैं। दर्पण महत्त्वपूर्ण नहीं है।"[1]

वृद्धावस्था में भी वे एक स्थान पर कुछ महीनों से अधिक नहीं ठहरते थे। उन्होंने कभी भी अपने को किसी देश विशेष, जाति विशेष, राष्ट्रीयता एवं संस्कृति विशेष का नहीं माना। कृष्णमूर्ति जी मनुष्य को बिना शर्त मुक्त करने के अपने दृढ़ निश्चय से कभी नहीं हटे। वे कहा करते थे कि हम ही विश्व हैं और हम स्वयं में गड़बड़ी के कारणों का पता लगायें, क्योंकि हमने स्वयं लोभ, राष्ट्रवाद, स्पर्धा, असहिष्णुता तथा सभी प्रकार की स्वार्थपरता को उत्पन्न किया है। वे सच्चे अर्थों में संपूर्ण मानव जाति के शिक्षक थे। थियोसोफिकल सोसाइटी जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्थात् जगत् गुरु की भूमिका निभाने और मानव मात्र के उद्धार के लिए कृष्णमूर्ति जी को तैयार कर रही थी। निस्संदेह वे उस पर खरे उतरे और एक सच्चे शिक्षक के रूप में उन्होंने अपनी भूमिका निभाई।

नवम्बर 1985 में कृष्णमूर्ति जी भारत की भूमि पर अंतिम बार आये थे। उस समय अपनी वार्ताओं में मृत्यु पर उन्होंने विशेष चर्चाएँ की तथा अपनी मृत्यु का भी आभास दिया था। 9 नवम्बर, 1985 को बौद्धों की एक वार्ता में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा :—

---

1. जे० कृष्णमूर्ति परिचय और रचनाएँ, (बुकलेट)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हर व्यक्ति मरने वाला है, शायद में भी (लोग हँसने लगे)। मुझे पता है मैं मरने जा रहा हूँ, जैसा कि आप सभी जानते हैं। डाक्टरों ने मुझे बताया है कि मुझे कैंसर हो गया है और मैं पहली जनवरी तक नहीं जीवित रह सकता। वैसे मैं पहली जनवरी को मरने नहीं जा रहा हूँ, संयोगवश जनवरी के अंत तक।"

उपरोक्त वार्ता से यह स्पष्ट हो रहा है कि कृष्णमूर्ति जी अपनी मृत्यु के बारे में जानते थे। डाक्टरों के अनुमान को गलत सिद्ध करते हुए वे जनवरी, 1986 में गंभीर रूप से बीमार हो गए, उनकी पाचन ग्रंथियों में कैंसर हो गया था। जनवरी-फरवरी 1986 में लगभग पाँच सप्ताह की अस्वस्थता के उपरान्त 17 फरवरी 1986 को लगभग 91 वर्ष की आयु में कैलिफोर्नियाँ स्थित ओहाई के पाइन काटेज में निद्रावस्था में ही उनका देहान्त हो गया। कृष्णमूर्ति जी आज नहीं हैं, परन्तु अपनी शिक्षाओं के माध्यम से वे आज भी मानवता का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

जे० कृष्णमूर्ति का व्यक्तित्व एवं उनके विविध रूप :

जे० कृष्णमूर्ति के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करते हुए विख्यात विचारक रोहित मेहता का कहना है कि कृष्णमूर्ति जी वर्तमान समय के एक मौलिक एवं क्रांतिकारी विचारक हैं। उन्होंने नवीन दर्शन का निर्माण किया। उनके दर्शन की एक विशिष्टता है चुनाव रहित सजग चेतना। उनका कहना है कि "जीवन की किसी समस्या को होश-पूर्वक देखो और उससे मुक्त होओ। यह बोध कोई बौद्धिक मामला नहीं है अपितु जब मन व हृदय के साथ अपने संपूर्ण अस्तित्व से हम किसी समस्या को देखते हैं तो यह देखना ही उस समस्या का निदान है। उनके दर्शन में आध्यात्मिक अनुभव के लिए किसी विधि-विधान का कोई स्थान नहीं है। उनका कहना है कि जो कुछ है उसे देखो और उसी देखने में ही सत्यं शिवं एवं सुन्दरम् का उद्घाटन हो जाता है। वे बराबर कहा करते थे कि "देखो, देखने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। उनका कहना है कि देखना स्वयं ही अपनी क्रिया को जन्म देता है, मात्र ठीक अवधान होना चाहिए। वास्तविक देखना तो बिना द्रष्टा-दृश्य के भेद के होता है। वास्तव में जो हम देखते हैं, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे मन की ही उपज है और मन ही अपने को द्रष्टा एवं दृश्य में विभाजित कर लेता है। ठीक देखना वह है जहाँ न द्रष्टा है और न दृश्य बल्कि शुद्ध दर्शन है। देखते-देखते जब द्रष्टा एवं दृश्य का भेद समाप्त हो जाता है तो शुद्ध दर्शन ही रह जाता है, वही सत्य है, वही शिव है और वही सुन्दर है।

अंग्रेजी के महान् लेखक और विचारक ऑल्डस हक्सले ने 1961 में कृष्णमूर्ति जी की वार्ता सुनने के बाद लिखा है कि अब तक जितनी भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें मैंने सुनी हैं, यह वार्ता उनमें अनन्यतम थी .....यह ऐसा अनुभव था मानो हम स्वयं बुद्ध को सुन रहे हों ..... ऐसी अद्भुत शक्ति ऐसा आन्तरिक अधिकार। "प्रथम एवं अंतिम मुक्ति" नामक पुस्तक के प्राक्कथन में ऑल्डस हक्सले कहते हैं—"कृष्णमूर्ति जो कुछ हमें देते हैं, उसका निश्चित स्वरूप क्या है? वह क्या है, जिसे हम चाहें तो कृष्णमूर्ति से ले तो सकते हैं, परन्तु संभावना इसी की अधिक है कि उसे हम न लेना ही पसन्द करेंगे। कृष्णमूर्ति जो हमें देते हैं, वह न तो विश्वासों की कोई प्रणाली अथवा रूढ़ सिद्धान्तों की कोई सूची है, न बने-बनाये विचारों एवं आदर्शों का कोई ढाँचा। वे न तो कोई नेतृत्व प्रदान करते हैं, न कोई मध्यस्थता और न कोई आध्यात्मिक निर्देशन। यही नहीं वे कोई अनुकरणीय उदाहरण भी हमारे लिए नहीं देते। वे जो कुछ हमें देते हैं उसमें न तो कोई क्रिया-काण्ड है, न धार्मिक सम्प्रदाय, न तो कोई व्यवहार का विधान है और न जीवन का उद्धार। उसमें कोई प्रेरणा देने वाली बहस भी नहीं है। तो क्या वह कोई आत्मानुशासन का रूप है? नहीं, क्योंकि यह एक बड़ा कठोर सत्य है कि आत्म-अनुशासन भी हमारी समस्या के समाधान का मार्ग नहीं है। वह समाधान तभी संभव है जब हमारा मन यथार्थ के प्रति उन्मुख हो और बिना पूर्व धारणाओं एवं प्रतिबंधों के बाह्य एवं आभ्यन्तर विश्वों में जो दिया हुआ है, उसका सामना करने को तैयार हों। यदि यह सत्य है कि ईश्वर की सेवा में ही पूर्ण स्वतंत्रता है तो इसका विलोम भी सत्य है कि पूर्ण स्वतंत्रता में ही ईश्वर की सेवा है। अनुशासित होने से मन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता, रहता वह पुराना ही है। हाँ, बस नियंत्रण में बँधा जकड़ा रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हक्सले आगे लिखते हैं कि आत्म-अनुशासन उन वस्तुओं की सूची में आता है, जिसे कृष्णमूर्ति हमें नहीं देते। तो क्या वे जो देते हैं उसे प्रार्थना कहा जा सकता है ? पुनः उत्तर निषेधात्मक होगा। प्रार्थना आपको वही उत्तर दे सकती है जिसे आप खोज रहे हैं, परन्तु वह उत्तर तो उस अचेतन से अथवा उस सामान्य स्रोत से आ सकता है जो आपकी समस्त तृष्णाओं का भण्डार है। वह उत्तर ईश्वर का निस्तब्ध स्वर तो नहीं होता। यथार्थ का स्वर तो स्वयं ही आपके पास आता है, उससे निवेदन नहीं किया जा सकता, उससे प्रार्थना नहीं की जा सकती। पूजा और भजन के द्वारा पुष्पार्पण के द्वारा उसे प्रसन्न करके, अपना दमन करके अथवा दूसरों का अनुकरण करके आप ऐसे किसी प्रलोभन के द्वारा उसे अपने छोटे से पिंजरे में कैद नहीं कर सकते। जो आप माँगते हैं, वह आपको मिलता तो है परन्तु वह सत्य नहीं होता। प्रार्थना से हम योग पर आते हैं और योग भी उन्हीं वस्तुओं में से है जिसे कृष्णमूर्ति हमें नहीं देते। योग एकाग्रता है और एकाग्रता बहिष्कार है। किसी एक विचार को चुनकर उस पर एकाग्रचित्त होकर आप प्रतिरोध की दीवार खड़ी कर लेते हैं और इस प्रकार आप सभी दूसरे विचारे से बचते हैं। जिसे प्रायः ध्यान कहा जाता है वह प्रतिरोध का संवर्धन है, उसमें अपनी इच्छा के किसी विचार पर ऐकान्तिक रूप से एकाग्रचित्त हुआ जाता है। यह चुनाव सुख पर, पुरस्कार अथवा उपलब्धि पर आधारित होता है, यह भी हो सकता है कि यह चुनाव व्यक्ति की प्रतिबद्धता एवं परंपरा की प्रतिक्रिया हो। जब आप एक विचार को चुनते हैं और दूसरे का निषेध करते हैं तो इस संघर्ष से प्रतिरोध द्वन्द्व एवं कलह पैदा होता है, जिसमें आपकी सारी शक्तियाँ व्यय हो जाती हैं। दूसरी ओर यदि आप प्रत्येक विचार ध्यान दें तो बहिष्कार नहीं होता। यदि आप बिना अधिकार की भावना के, बिना औचित्य समर्थन के अवधान करें तो आप देखेंगे कि उस विचार को केवल देखने मात्र की प्रक्रिया से ही वहाँ कोई दूसरा विचार प्रवेश नहीं करता। जहाँ गुण-दोष का निर्णय होता है, जहाँ तुलना है, जहाँ तिरस्कार है, वहाँ मन के खुलेपन का अभाव होता है, उससे वहाँ स्वतंत्रता नहीं होती। पहले से निश्चित किसी प्रयोजन से अन्तर्निरीक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना हमारी सहायता नहीं करता। पक्ष अथवा विपक्ष में निर्णय लेने से तुलना करने से हम अनिवार्यतः द्वैत से प्रतिबद्ध हो जाते हैं। केवल निःसंकल्प अवधान ही है जिसमें निर्णय नहीं होता, वही हमें द्वैत से मुक्ति की अवस्था तक ले जाता है। वास्तविक मुक्ति सर्जनशील यथार्थ की आन्तरिक स्वतंत्रता है। यह अक्षय कोष तभी उपलब्ध होता है, जब विचार अपने को वासना, दुर्भावना एवं अज्ञान से मुक्त कर लेता है, जब विचार अपने को सांसारिकता से तथा कुछ बनने की वैयक्तिक लालसा से मुक्त कर लेता है। सम्यक् विचार तथा ध्यान से इसका अनुभव किया जा सकता है।

निःसंकल्प आत्म-अवधान हमें इस सर्जनशील यथार्थ तक ले जाएगा, जो हमारे तमाम मिथ्या विनाशकारी विश्वासों के पीछे छिपा है, हमें उस शांत प्रज्ञा तक ले जाता है जो तमाम अज्ञान के बाद भी ऐसे ज्ञान के बाद भी जो केवल अज्ञान का ही एक रूप है, सदा विद्यमान रहती है। ज्ञान प्रतीकों का ही एक व्यापार है और प्रज्ञा के लिए वह प्रायः सदा ही अवरोध का कार्य करता है, वह स्व को हमें प्रति क्षण अनावृत्त नहीं करने देता। जो मन प्रज्ञा की शान्ति तक पहुँच गया है वही सत् को जानेगा, वही जानेगा कि प्रेम करना किसे कहते हैं, प्रेम न तो वैयक्तिक होता है न अवैयक्तिक। प्रेम स्वयं अपनी चिरंतनता है, वह यथार्थ है, वह सर्वोपरि है, वह असीम है।

कृष्णमूर्ति जी के व्यक्तित्व के बारे में संबुद्ध पुरुष ओशो रजनीश का कहना है कि "जे० कृष्णमूर्ति तो एक सद्गुरु हैं—उसी कोटि में जहाँ बुद्ध, महाबीर, कृष्ण और क्राइस्ट हैं। जे० कृष्णमूर्ति एक जीवंत जाग्रत प्रबुद्ध पुरुष हैं। कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति आग्रह नहीं करते कि ऐसा होना ही चाहिए। कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति जब किसी के सिर पर हाथ रखते हैं तो वे यह नहीं कहते कि ऐसा होना चाहिए, वैसा नहीं होना चाहिए। वे तो सिर्फ यह कहते हैं कि जो शुभ हो वह हो। जिनकी अस्तित्व के साथ तथाता सध गई है, वे सभी कहेंगे कि जो शुभ हो वही हो, अगर जीना शुभ हो तो जीना हो अगर मृत्यु शुभ हो तो मृत्यु हो।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति की साधना पद्धति की चर्चा करते हुए ओशो रजनीश का कहना है कि कृष्णमूर्ति जिन्दगी भर समझाते रहे कि समस्त साधनाएँ भ्रम हैं। समस्त साधनाओं को भ्रम मान लिया जाए, समस्त उपायों को भ्रम मान लिया जाए, समस्त विधियों को भ्रम मान लिया जाए तो आदमी निर्विध हो जाता है, निरुपाय हो जाता है, और निर्विध और निरुपाय हो जाने में ही ध्यान फलित होता है, यह भी साधना की एक विधि है—नकारात्मक विधि है, विधायक विधि नहीं है। दुनियाँ में सदा से दो प्रकार की विधियाँ रही हैं—नकारात्मक और विधायक। विधियों को सीखना हो तो पतंजलि से सीखो, नकारात्मक को सीखना हो तो अष्टावक्र से सीखो, कृष्णमूर्ति से सीखो, कृष्णमूर्ति आधुनिक अष्टावक्र हैं। लेकिन यह मत सोचना कि नकारात्मक विधि, विधि नहीं होती। यह भी एक विधि है, सारी विधियों को छोड़ देना—एक विधि है। और यह कोई आसान विधि नहीं है, ख्याल रखना। नकारात्मक विधि में धीरे-धीरे आलम्बन छुड़ाया जाता है, एक-एक करके छुड़ाया जाता है, एकदम नहीं छुड़ा लिया जाता। पहले कहा जाता है : यह देह मैं नहीं हूँ, इसलिए फिर देह की विधियाँ छोड़ दो, शीर्षासन करना, सिद्धासत लगाना और सर्वाङ्गासन करना, इनसे कुछ न होगा। फिर धीरे-धीरे मैं मन नहीं हूँ, फिर मन की विधियाँ छोड़ो – मंत्र, जाप, इनसे कुछ न होगा। मन की विधियाँ चली जाएँ तो फिर आत्मा की जो प्रतीतियाँ हैं; मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण —ये भी व्यर्थ हैं, इनको भी छोड़ दो। ऐसे छोड़ते-छोड़ते, काटते-काटते बचेगा क्या ? सिर्फ एक शून्य बच रहेगा। वही शून्य मोक्ष है, वही शून्य निर्वाण है। यह नकारात्मक विधि है निर्वाण तक जाने की, मगर विधि ही है। मैं तुमसे कह देना चाहता हूँ कि विधि ही है।

कृष्णमूर्ति जी सामूहिक साधना पद्धतियों को व्यर्थ बताते हैं. उनका कहना है कि सत्य की खोज एक वैयक्तिक मामला है। तुम उसे अकेले ही पा सकते हो, किसी गुरु, किसी मार्गदर्शक की कोई आवश्यकता नहीं है, न तुम्हें कहीं समर्पण करने की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि जब व्यक्ति स्वयं सत्य तक पहुँच सकता है, बिना किसी विधि के, बिना किसी साधना के, फिर कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर को स्पष्ट करते हुए ओशो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजनीश का कहना है कि "कृष्णमूर्ति कहे चले जाते हैं कि तुम अकेले पा सकते हो। ऐसा इसलिए क्योंकि उनकी विधि एक अप्रत्यक्ष विधि है। वे तुम्हें न जानने देंगे कि वे मदद कर रहे हैं, और वे तुमसे नहीं कहेंगे "मुझे समर्पण कर दो।" यही कारण है कि कृष्णमूर्ति के समीप अहंकारियों की बड़ी भारी भीड़ है, क्योंकि अहंकारी कभी भी किसी के आगे समर्पण नहीं करता। इसलिए कृष्णमूर्ति की बातें उन्हें बड़ी रुचिकर लगती हैं, क्योंकि कुछ करना है नहीं, न ध्यान न योग न समर्पण। कृष्णमूर्ति के पीछे चलने वाले, चिपक जाते हैं उनके शब्दों से सिद्धान्तों की भाँति। इस प्रकार वे कृष्णमूर्ति से कोई लाभ नहीं ले पाते उल्टे उन्हें हानि ही होती है, क्योंकि वे कृष्णमूर्ति को गलत तरीके से पकड़ते हैं। कृष्णमूर्ति ने काम किया पश्चिम में। वे स्वयं विकसित हुए गुरुओं के द्वारा। बहुत-बहुत गहन ढंग से उन्हें मदद मिली गुरुओं से। गुरु जो देह में थे और गुरु जो देह में न थे, सभी ने विकसित होने में उनकी मदद की। लेकिन फिर उन्होंने कार्य किया पश्चिम में, पश्चिम समर्पण करने को तैयार नहीं। इसलिए वे कृष्ण की भाँति नहीं कह सकते "आओ और मुझे समर्पण कर दो।

करुणामय कल्याण मित्र :

कृष्णमूर्ति जी एक करुणावान् व्यक्ति हैं। वे मनुष्य की संपूर्ण समस्याओं पर गंभीरता से विचार करते हैं तथा लोगों को प्रेरित करते हैं कि वे अपनी समस्याओं के मूल तक जायें। समस्याओं को ऊपर से देखने पर उनका स्थायी निदान नहीं खोजा जा सकता। वे वास्तविक अर्थों में मनुष्य का कल्याण करना चाहते हैं। मानवीय दुःखों की ओर इंगित करते हुए एक प्रश्नकर्त्ता ने कृष्णमूर्ति से पूछा कि आज लाखों लोग दुःख एवं दरिद्रता में जीवन यापन करते हैं। उन्हें न तो भर पेट भोजन मिलता है न ठंडक में शरीर ढँकने के लिए पर्याप्त वस्त्र ही उपलब्ध होते हैं। लोग अपने आपको जिन्दा रखने के लिए अमानवीय कृत्य करने को मजबूर हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में आपका यह आध्यात्मिक भोजन कोई महत्त्व नहीं रखता। कृपया आप बतायें कि उन लाखों लोगों के लिए आपका क्या संदेश है जिन्हें न तो भर पेट भोजन मिलता है न तन ढँकने के लिए पर्याप्त वस्त्र ही उपलब्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रश्न के उत्तर में कृष्णमूर्ति जी कहते हैं, "इसे आप इस तरह समझें। अगर आप सड़क पर कोई दुर्घटना देखते हैं कि एक आदमी मोटर से कुचल दिया गया तो क्या आप अपने को आने वाली मोटर के आगे डालकर समस्या का निदान कर सकते हैं ? यदि आपके घर में कोई बीमार हो तो क्या आप समस्या के हल के लिए स्वयं बीमार हो जाते हैं ? नहीं, आप ऐसा नहीं करते। आप दुर्घटना को रोकने के लिए कानून बनाते हैं तथा लोगों को समझाने का प्रयास करते हैं कि लोग वास्तविकता समझें और सावधान हो जाय। आप डाक्टरी सहायता का उपयोग करते हैं ताकि वह व्यक्ति उतना ही स्वस्थ हो जाय जितना आप हैं। जब आप जीवन को इस दृष्टि से देखते हैं तो यह बिल्कुल भिन्न हो जाता है। किसी चमत्कारिक प्रभाव से लोगों को एक दिन भोजन मिल जाने से उनकी समस्या नहीं हल होगी। हमें समस्या के मूल में जाना होगा जिसके कारण ऐसी समस्या जन्म लेती है। समस्या का मूल यह है कि हमारी स्वार्थपरता, स्नेह का अभाव, क्रूरता आदि ने ही ऐसी परिस्थिति पैदा की है। मन और हृदय की वृत्ति को बदलकर ही ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित की जा सकती हैं जो इन समस्याओं का स्थायी हल होंगी। राहत के रूप में दी जाने वाली सहायता से स्वार्थपरता क्रूरता, ईर्ष्या, जलन, हृदय की पीड़ा और मन की अशांति जैसी समस्याओं का समाधान कभी नहीं होगा। मेरा सरोकार इसी बात से है क्योंकि यदि आप उसे हल कर लें तो आप अन्य सभी चीजों को हल कर लेंगे। जब आपकी भेंट एक अच्छे डाक्टर से होती है तो वह मात्र आपके एक लक्षण का इलाज नहीं करता अपितु वह समस्या के मूल में जाकर सभी लक्षणों को दूर कर देने का उपाय करता है ताकि आप पूर्ण स्वस्थ हो जाय। मैं कहता हूँ मुक्ति ही और प्रगति ही एक मात्र ऐसी चीज है जिसका महत्त्व है। इस प्रकार कृष्णमूर्ति जी मानव मात्र का हृदय से कल्याण चाहते हैं। व्यक्ति स्वयं अपनी समस्याओं से मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ ले।

संबुद्ध संत :

एक बार किसी ने कृष्णमूर्ति से पूछा कि यदि कोई व्यक्ति आपको मार डाले तो क्या होगा ? उसके उत्तर में वे कहते हैं, "आह ! एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त व्यक्ति को कोई मार नहीं सकता। आप भले ही उसकी आँखें बाहर निकाल लीजिए परन्तु अपने में वह मुक्त है, और कोई भी चीज उस मुक्ति का स्पर्श नहीं कर सकती। एक संबुद्ध पुरुष जीवन एवं मरण के पार होता है, उसे अपने उस स्वरूप का बोध होता है जो मृत्यु के पार होता है। वह सभी का समान रूप में कल्याण चाहता है। अपना अहित करने वाले का भी वह कल्याण ही चाहता है, क्योंकि उसके हृदय में अपार करुणा होती है। वह सुख-दुःख से परे सदा आनन्द में ही जीता है। कृष्णमूर्ति जी एक संबुद्ध पुरुष हैं जो मुक्ति के महत्त्व को अच्छी प्रकार जानते हैं। इसीलिए तो उनका कहना है कि मेरे जीवन का एक मात्र उद्देश्य लोगों को बिना शर्त मुक्त करना है।" वे कहते हैं, "मैंने मुक्ति खोज ली है और उस जगत् में प्रवेश किया है जहाँ शाश्वत सुख है और मैं औरों को इसी दृष्टिकोण से समझने में मदद चाहता हूँ। चूंकि कृष्णमूर्ति जी की संपूर्ण शिक्षा का सार मुक्ति की खोज है, इसलिए वे चाहते हैं कि व्यक्ति उस मुक्ति की खोज स्वयं करे जो शाश्वत मूल्यवाली है। उनका कहना है कि चूँकि मैं खुद परंपराओं से अंध श्रद्धाओं से मुक्त हूँ, अतः मैं अन्य लोगों की भी उनकी अंध श्रद्धाओं, उनके सिद्धान्तों, उनकी विचार-प्रणालियों और उनके धर्म-सिद्धान्तों से मुक्त करना चाहता हूँ, क्योंकि ये जीवन को सीमित करते हैं, केवल इसी दृष्टिकोण से मैं बोलता हूँ न कि नया मत चलाने या कोई नया प्रामाण्य लादने के इरादे से। लोगों को मुक्त करने में अपनी भूमिका को स्पष्ट करते हुए आपका कहना है कि "आपके जीवन के लिए मैं एक दर्पण की भाँति कार्य कर रहा हूँ, जिसमें आप जैसे भी हैं देख सकते हैं और तब आप दर्पण को फेंक दे सकते हैं। दर्पण महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे कहते हैं कि "मैं आप लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति को उन चीजों के बारे में बताना चाहता हूँ जिन्हें मैंने पाया है कि वे पूर्ण हैं, वे चीजें जिन्होंने मुझे संबोधि प्रदान की है, ये चीजें जिन्होंने मुझे उपलब्ध करने की एवं अपनी उपलब्धि को अनवरत एवं स्थायी रूप से सुरक्षित रखने की शक्ति प्रदान की है। स्पष्ट समझ हासिल करने के लिए तथा जिन चीजों को समझना चाहते हैं, उन चीजों के स्पष्ट दर्शन के लिए आपको स्पष्ट दृष्टि वाला आन्तरिक नेत्र खोलना चाहिए। वह आन्तरिक नेत्र जो आपके लक्ष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर आपका मार्गदर्शन करेगा ताकि वही नेत्र आपका सच्चा मार्गदर्शक, आपका शासक और आपका मित्र हो। मैं आपकी केवल इतनी सहायता कर रहा हूँ कि आप स्वयं अपनी समझ और बोध का अनुसरण करें।"

103179

कृष्णमूर्ति का महत्त्व :

जे० कृष्णमूर्ति एक विशिष्ट प्रकार के सत्यान्वेषी हैं, जिनकी महत्ता अक्षुण्ण रहेगी। कृष्णमूर्ति के समीप बैठना एवं उनकी बार्ताओं को सुनना अपने आप में एक लोकोत्तर अनुभव प्रदान करता है, जिनकी तुलना किसी अन्य से नहीं की जा सकती। जब व्यक्ति अपनी परंपराओं, पूर्वाग्रहों, मतों तथा प्रतिबद्धताओं से ऊपर उठकर स्पष्ट दृष्टिवाला आन्तरिक नेत्र खोलता है, तब वही नेत्र उसका सच्चा मार्गदर्शक शासक और मित्र होता है। वे चाहते थे कि व्यक्ति की दृष्टि इतनी स्पष्ट हो कि वह स्वयं ही अपना गुरु तथा शिष्य दोनों हो। वे नहीं चाहते कि कोई व्यक्ति अपने मार्गदर्शन के लिए किसी व्यक्ति पर आश्रित रहे। वे समाज में व्याप्त गुरुडक के प्रबल विरोधी थे। वे मानव मात्र को अप्रतिबद्ध रूप से मुक्त करने के पक्षपाती थे। वे एक मित्र की भाँति लोगों का कल्याण करना चाहते थे न कि गुरु के रूप में। उनका कहना था कि सत्य किसी से प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे तो संबंधों के दर्पण द्वारा अपने मनस् तत्त्व के बोध तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कृष्णमूर्ति जी पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही संस्कृतियों से अच्छी प्रकार परिचित थे। उनका अपना अनुभव था कि चाहे पूर्व हो या पश्चिम, मानव-स्वभाव एक जैसा है। सभी में दुःख, संताप, घृणा तथा द्वेष आदि भावनाओं के साथ ही सत्य को जानने की प्यास भी विद्यमान है। मन की द्वैत भावना के कारण ही मनुष्य ने अपने जीवन को नर्क बना दिया है। मनुष्य के विचारों एवं कर्मों के बीच का सामंजस्य टूटता जा रहा है। उसने अपने तथा दूसरों के लिए मूल्यांकन का अलग-अलग मापदण्ड बना लिया है, जिसके कारण वह जाने-अनजाने दुःखों को आमंत्रित करता जा रहा है। वे कहते हैं, जब तक मनुष्य के मन एवं हृदय शुद्ध नहीं होते तथा अपने सद्विचारों को वह अपने कर्म में नहीं उतारता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब तक वह मनुष्य कहलाने लायक भी नहीं रहता है। उनका कहना है कि आत्मज्ञान में ही मानवीय समस्याओं का निदान छिपा है और उन्हीं से मनुष्म के हृदय में बोध, करुणा, दया एवं प्रेम का उदय होता है, जो सुख एवं शांति से जीवन जीने का प्रेरणा स्रोत है। वे मनुष्य की स्वतंत्रता के पक्षपाती थे, परन्तु स्वेच्छाचारिता उनके लिए असह्य थी, आचरण में किसी प्रकार की ढील वे नहीं देना चाहते थे क्योंकि इससे समाज में अराजकता फैलती है। उनका कहना है कि आचरण को जब समुचित रूप में दैनिक जीवन में उतारा जाता है तो वह साधुता बन जाता है। यदि हमारे पास आचरण न हो, विचारशीलता न हो, भावना न हो तो साधुता हमसे दूर चली जाती है। उस साधुता को यानी मन और हृदय की मंगलमय अवस्था को स्थापित करने के लिए हमारे दैनिक जीवन में अच्छा आचरण अनिवार्य है। पूर्णता के लिए दृष्टिगोचर सौन्दर्य के प्रेम को अधिक महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि सौन्दर्य तभी प्रकट होता है जब अहंकार का पूर्णरूपेण विसर्जन हो चुका होता है। सत्य के खोजी के लिए जीवन से पलायन करने के वे सदा विरोधी थे, क्योंकि सत्य तो संबंधों के दर्पण में ही देखा जा सकता है। मनुष्य कहीं भी जाएगा, उसका मन तो उसके साथ ही रहेगा, उसे दुःखों का ताना-बाना बुनते कितनी देर लगेगी ?

कृष्णमूर्ति जी सभी प्रकार की साधना पद्धतियों के सदा विरोधी थे, क्योंकि पद्धति समय की माँग करती है, जिससे आदत निर्मित होती है, जो एक यांत्रिक प्रक्रिया है। वास्तव में स्पष्ट दृष्टिवाला आन्तरिक नेत्र ही सत्य का अनुभव कर सकता है। तुलना, प्रतिस्पर्धा एवं महत्वाकांक्षा मानव मन को भ्रष्ट करती है। कृष्णमूर्ति जी एक ऐसी शिक्षा के पक्षपाती थे जिसमें किसी को किसी से तुलना न की जाय, क्योंकि अस्तित्त्व में सभी का समान महत्त्व है। वास्तव में हमारे हृदय में जब प्रेम होता है तो हम मूर्ख एवं होशियार में भेद नहीं करते, जैसे एक सच्ची माँ जिसके हृदय में अपने बच्चों के प्रति प्रेम है वह उनमें तुलना नहीं करती, उसके लिए सभी समान रूप में महत्त्व-पूर्ण होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मानवीय समस्याओं की तह तक जाते हैं। जिस प्रकार एक्स किरण फोटोग्राफी शरीर के प्रत्येक अंग की वास्तविक संरचना को व्यक्त कर देती है, उसी प्रकार कृष्णमूर्ति जी मानवीय दुःखों के मूल कारण को स्पष्ट कर कर देते हैं। आहत मन को स्वस्थ बनाने की कला उन्हें ज्ञात थी। उनकी वार्ताओं में लोग उनकी दिव्य उपस्थिति का अनुभव किया करते थे। आज की विषम परिस्थिति में जहाँ पर्यावरण का संकट है, धार्मिक उन्माद है, वैचारिक विषमताएँ हैं, कट्टर राष्ट्रवाद है, मनुष्य-मनुष्य के बीच भयंकर संघर्ष है, वहाँ कृष्णमूर्ति जी की शिक्षाओं का महत्त्व बढ़ जाता है। उनकी कृतियों के माध्यम से मानव-मन को शांति मिल सकती है तथा वह उनके सहारे उस दिव्यता का अनुभव कर सकता है, जिसकी उसे बराबर तलाश है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

दर्शन

दर्शन शास्त्र के अर्थ :

"दर्शन" शब्द दर्शनार्थक दृश् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है "देखना" या "अवलोकन" करना। "देखना" दर्शन का साधारण अर्थ है। दर्शन शास्त्र में दर्शन का एक विशेष अर्थ होता है। भारतीय दर्शन में दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य सत्य के स्वरूप का अनावरण करना है। जिस दर्शन से आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परम तत्व या परम सत्य के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है, भारतीय मनीषा उसी को दर्शन मानती है।

पाश्चात्य जगत् में दर्शनशास्त्र के लिए "फिलोसोफी" शब्द का प्रयोग किया जाता है जो ग्रीक भाषा के दो शब्दों "फिलोस" तथा "सोफिया" से मिलकर बना है, जिसमें "फिलोस" का अर्थ होता है "प्रेम" या "अनुराग" तथा "सोफिया" का अर्थ होता है "ज्ञान"। इस प्रकार पाश्चात्य जगत् की "फिलोसोफी" ज्ञान के प्रति अनुराग अथवा ज्ञान के प्रति प्रेम के अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। पाश्चात्य दर्शन एक प्रकार का बौद्धिक उहापोह है, जबकि भारतीय दर्शन व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने के लिए प्रेरित करती है। पाश्चात्य दर्शन जहाँ ज्ञान के संचयन पर बल देता है—वहीं भारतीय दर्शन "सा विद्या या विमुक्तये" या "अमृतं तु विद्या श्वेता" के अनुसार विद्या या ज्ञान उसे मानता है जिससे मुक्ति प्राप्त होती है या जिससे अपने अमृत स्वरूप का बोध होता है।

जे० कृष्णमूर्ति के अनुसार दर्शन की परिभाषा :

कृष्णमूर्ति जी के अनुसार वास्तविक दर्शन वह है जो हमें "सत्य के लिए प्रेम", "जीवन के लिए प्रेम" तथा "प्रज्ञा के लिए प्रेम"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जागृत करता है। दर्शन व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है कि "मैं कौन हूँ" बाह्य एवं आन्तरिक जगत् में होने वाले प्रत्येक स्पन्दन का प्रतिक्षण बोध होना ही वास्तविक दर्शन है। कृष्णमूर्ति जी के अनुसार आत्मज्ञान या आत्मबोध ही वास्तविक दर्शन है। आप का मानना है कि शिक्षण संस्थाओं में दर्शन के नाम पर जो कुछ पढ़ाया या सिखाया जाता है वह मात्र विचारों एव सिद्धान्तों की व्याख्याएँ होती हैं। इस प्रकार के तथा कथित दर्शन से छात्रों की बुद्धि प्रतिबद्ध हो जाती है और सत्य के वास्तविक स्वरूप को देखने की क्षमता प्रायः समाप्त हो जाती है।

"शब्दकोश के अनुसार फिलोसफी का अर्थ है-सत्य का प्रेम, जीवन का प्रेम, प्रज्ञा का प्रेम-न कि एक-एक करके सिद्धान्तों को जोड़ते जाना अथवा दूसरों को उद्धृत करना और यह बताना कि उन्होंने क्या बताया है। संसार भर के विश्वविद्यालय, कालेज, स्कूल बुद्धि को प्रतिबद्ध करने में लगे हैं"।[1]

कृष्णमूर्ति दर्शन की विशेषताएँ :

कृष्णमूर्ति जी की गणना उन थोड़े से प्रज्ञावान् पुरुषों में की जाती है, जिन्होंने जीवन को उनकी अनन्त गहराइयों तक समझने तथा लोगों को जागृत करने में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया है। आपकी दृष्टि परम्पराओं की लीक से हटकर जीवन के वास्तविक तथ्यों का वस्तुपरक एवं प्रत्यक्ष दर्शन कराने में सहायक सिद्ध होती है। आधुनिक रहस्यदर्शी ओशो रजनीश का मानना है कि जे० कृष्णमूर्ति आधुनिक अष्टावक्र हैं, जिन्हें वास्तव में ठीक से समझा जाय तो राजा जनक की भाँति तत्क्षण स्वबोध घटित हो सकता है। कृष्णमूर्ति जी के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे किसी भी प्रकार की बाह्य प्रामाणिकता का सर्वथा निषेध करते हैं। वे अपने व्याख्यानों तथा लेखों में परम्परागत रूप से प्रयुक्त होनेवाली शब्दावलियों से भी अपने को बचाने का प्रयास करते हैं।

---

1. परिसंवाद, अंक 3, पृ० 18-19, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया—वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि वे किसी परम्परागत शब्द का प्रयोग करते भी हैं तो उसे पूरी तरह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि इन शब्दों का किन अर्थों में प्रयोग किया गया है। जब वे ईश्वर, प्रेम, ध्यान तथा धर्म आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उसके प्रयोग में बड़ी सावधानी बरतते हैं। उन्हें इस बात का सदा भय बना रहता है कि लोग उन्हें भी बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य तथा अन्य पूर्ववर्ती गुरुओं की कोटि में ही न समझ लें। अतः वे परंपरागत प्रयुक्त होनेवाले वस्त्रों, शब्दावलियों, ध्यान-विधियों, धर्मग्रन्थों आदि का पूर्णतः निषेध करते हैं। वे धार्मिक संगठनों, सम्प्रदायों और तथाकथित गुरुओं के पूर्णतः विरोधी हैं। उनका कहना है कि धार्मिक संगठन एवं सम्प्रदाय एक प्रकार की राजनीति के अड्डे हैं। इन संगठनों के कुछ आदर्श एवं नैतिक मान्यताएँ होती हैं, जिसके सहारे ये सत्य का दर्शन करना चाहते हैं, जबकि सत्य सभी परंपराओं, आदर्शों एवं कल्पनाओं से बिल्कुल अछूता है। उनका मानना है कि सत्य तक पहुँचने के लिए न तो कोई राजमार्ग ही है न ही उस रामजमार्ग की कोई परंपरा ही होती है। सत्य तो स्वयं के भीतर छिपा है, जो संबंधों के दर्पण द्वारा अपने को प्रकट करता रहता है।

"सत्य एक पथहीन भूमि है। मनुष्य इस तक किसी संगठन, किसी पंथ, किसी रुढ़िवादिता, पुरोहित या कर्मकाण्ड द्वारा नहीं पहुँच सकता और न ही किसी दार्शनिक ज्ञान या मनोवैज्ञानिक तकनीक से ही। उसे तो सत्य को, सम्बन्ध के दर्पण द्वारा, अपने मानस की विषय-वस्तुओं की समझ द्वारा तथा निरीक्षण द्वारा पाना है, न कि बौद्धिक छानबीन या अन्तदर्शी सूक्ष्म परीक्षण से।[1]

कृष्णमूर्ति जी के दर्शन का हृदय-सूत्र यह है कि सत्य के खोजी को आप्त वचनों, गुरुओं तथा परंपरागत विधि-विधानों का परित्याग कर स्वयं ही तथ्यों का वस्तुपरक एवं प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए। आपका कहना है कि अपने स्वयं के अनुभव से निकला हुआ विचार हजारों बुद्ध पुरुषों के संगठित विचारों से कहीं अधिक सशक्त होता

---

1. परिसंवाद, अंक 5, पृ० 7.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। स्वयं के प्रत्यक्ष दर्शन से ही प्रज्ञा एवं करुणा का जन्म होता है। संस्कारजनित विश्वासों एवं अंधविश्वासों के सहारे व्यक्ति कभी भी सत्य को उपलब्ध नहीं हो सकता। संस्कारों से बोझिल मन सत्य के समक्ष एक अवरोध की भाँति खड़ा हो जाता है। अत प्रत्यक्ष दर्शन के लिए मनुष्य का मन, ज्ञान एवं समस्त संस्कारों से पूर्णरूपेण मुक्त होना चाहिए।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि जिज्ञासु को सदा अपनी परंपराओं, आस्थाओं, विश्वासों एवं गुरुओं पर संदेह करना चाहिए, क्योंकि संदेह एक महा औषधि है। संदेह से ही नित नूतन का जन्म होता है। किसी भी चीज को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेना सत्य के साथ विश्वासघात होता है, जबकि संदेह सत्य के मन्दिर तक पहुँचने की एक अनिवार्य सीढ़ी है। आपका कहना है :—

"मेरी समझ यह है कि सत्य की खोज और समझ के लिए संदेह अनिवार्य है। संदेह तथा संदेह द्वारा की जाने वाली कठोर जाँच-पड़ताल इन दोनों को बुलाये बिना यदि आप किसी चीज को सीधे मान लेते हैं तो आपको सत्य की खोज में जो प्राप्त होगा वह असली नहीं होगा। सत्य की उस समझ को अपने लिए स्थापित करने के लिए संदेह को टाला नहीं जा सकता, वल्कि संदेह को आमंत्रित करना होगा। संदेह को उसकी प्रचण्ड कठोरता और क्रूरता के साथ आने दीजिए और उससे आप स्वयं अपनी छान-बीन कीजिए तथा जिस ज्ञान की प्राप्ति आप मानते हैं कि आपको हुई है, उसकी भी जाँच-परख कीजिए"।[1]

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सत्य की प्राप्ति का एक ही तरीका है और वह यह कि हम अर्द्ध सत्य चीजों के जाल में न फँसकर शाश्वत सत्य की उपलब्धि के लिए अपने विश्वासों, हठधर्मी मताग्रहों तथा कायरता एवं भय से उत्पन्न हुई सत्य की अपनी अधकचरी समझ को एक किनारे रख दें। ऐसा करना भी तभी संभव होगा जब हम सदा अस्वीकार करते रहें, सदा प्रश्न करते रहें, कभी संतुष्ट न हों।

---

1. परिसंवाद, अंक 7, पृ० 6–7,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हम उन समस्त चीजों की जो सत्य और हमारे बीच खड़ी हैं, संदेह एवं अस्वीकार की दृष्टि न अपनाकर पूजा करने में लग जाएँगे तो ऐसा करना सत्य के साथ विश्वासघात होगा।

"आप देख सकते हैं कि युगों और सदियों के दौरान किस तरह तथाकथित सत्य के नियम-अनुशासन ने व्यक्ति की स्वयं पूजा की है तथा दूसरों से भी करवाई है और ऐसा करते हुए उन्होंने सत्य को नीचे गिरा दिया है और इस प्रकार उन्होंने सत्य के साथ विश्वासघात किया है।"[1]

भारतीय परम्परा सत्य के खोजी को पलायनवादी बनाती रही है। इस परम्परा का मानना है कि परिवार, समाज एवं संसार सत्य के अन्वेषण में बाधक हैं, जब तक व्यक्ति इन समस्त मायावी जंजालों से मुक्त नही हो जाता तब तक वह सत्य की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। इस विचारधारा के विपरीत कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि संसार से भागकर हम जहाँ भी जाएँगे वहीं संसार उपस्थित होगा, क्योंकि संसार बाहर की चीज नहीं है अपितु वह हमारे मन की उपज है। जैसी हमारी मनःस्थिति होती है, हम वैसा ही संसार निर्मित कर लेते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने भीतर छिपे खजानों की खोज करें, क्योंकि परम धन एवं सच्ची मुक्ति स्वयं के भीतर शाश्वत रूप में विद्यमान है।

"यह संसार एक अच्छी जगह है। इससे भागने के लिए हम सब कुछ करते हैं-पूजा, प्रार्थना, प्रेम और भय। हम यह नहीं जानते कि हम समृद्ध हैं या दरिद्र। हम अपने भीतर गहराई से कभी नहीं गये हैं और "जो है" उसकी खोज नहीं की है।"[2]

कृष्णमूर्ति जी मुक्ति एवं आनन्द को ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य मानते हैं, और इसे ही मानव मात्र का अन्तिम लक्ष्य भी

---

1. परिसंवाद, अंक 7, पृ० 9,
2. परिसंवाद, अंक 9, पृ० 10,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताते हैं : उनके समस्त दर्शन का ही मूल मन्त्र है कि लोग पूर्णरूपेण अपने को मुक्त करके उसका आनन्द प्राप्त करें।

"मेरे जीवन फा एक मात्र उद्देश्य है लोगों को उस मुक्ति और आनन्द को प्राप्त करने में सहायता करना जिन्हें मैं स्वयं प्राप्त कर चुका हूँ और जो सम्पूर्ण मानवता के लिए अन्तिम लक्ष्य है।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का सारा चिन्तन इसी लक्ष्य की ओर ले जाता है कि कैसे व्यक्ति अपनी परंपराओं और विश्वासों के समुच्चय से मुक्त हो। मुक्ति का अनुभव इतना आनन्ददायक एवं अकथनीय है कि कोई भी दर्शन उसे अपने में समाहित नहीं कर सकता और बार-बार कहके के उपरान्त भी वह अनकहा रह जाता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि मैं न तो किसी धार्मिक मत की शिक्षा दे रहा हूँ न ही किसी नये प्रामाण्य को आरोपित करना चाहता हूँ, मेरा तो एक मात्र उद्देश्य यह है कि कैसे मनुष्य मुक्त होकर शाश्वत् आनन्द में निमग्न हो जाय जहाँ न तो किसी प्रकार का दुःख है न हो चिंता की कोई रेखा।

"मैं मोक्ष प्राप्त कर चुका हूँ जहाँ शाश्वत आनन्द है, और दूसरे लोग भी ऐसी झलक प्राप्त कर सकें, उस दृष्टि से मैं उनकी सहायता करूँगा।"[2]

कृष्णमूर्ति जी का दर्शन सभी प्रकार की मान्यताओं, विश्वासों और तुलनाओं से ऊपर उठकर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए प्रेरित करता है। वे समस्त पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी हैं। उनका मानना है कि मानव-मन स्वयं ही पुस्तकों को पुस्तक है, क्योंकि सभी पुस्तकों की उत्पत्ति का मूल स्रोत मानव-मन ही है। वहीं से उपनिषद्, गीता, कुरान एवं पुराण का जन्म होता है। जिसने मानव-मन की पुस्तक को ठीक से पढ़ा है, उसे अन्य किसी पुस्तक को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है स्वयं के मन की पुस्तक का ज्ञान होना आत्मज्ञान का आरंभ है। आपका कहना है कि :—

1. परिसंवाद, अंक 8, पृ० 1,
2. परिसंवाद, अंक 8, पृ० 4,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैंने न तो उपनिषद् पढ़े हैं न भगवद्गीता और न मानसशास्त्र के सम्बन्ध में ही कुछ अध्ययन किया है। लेकिन जैसा कि मैंने आप से कहा-यदि आप अपने ही मन का निरीक्षण करें तो आपको ज्ञात होगा कि वहाँ सब कुछ विद्यमान हैं। जब आप आत्मज्ञान की यात्रा पर निकल पड़ते हैं तब पुस्तकों का महत्व ही नहीं रह जाता। यह एक अद्भुत प्रदेश में प्रवेश करने के समान है, जहाँ आप नई वस्तुएँ खोजना आरम्भ करते है और आश्चर्यजनक अनुसंधान करते हैं।"[1]

कृष्णमूर्ति दर्शन आत्मज्ञान में ही सभी समस्याओं का समाधान मानता है। वे आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, निर्वाण तथा स्वर्ग एवं नर्क आदि विषयों को अपने दर्शन का मुख्य विषय न बनाकर मानव मात्र की वास्तविक समस्याओं पर सीधे विचार करने की प्रेरणा देते हैं। उनका मानना है कि आत्मा, परमात्मा तथा मोक्ष आदि समस्या मानव मात्र की वास्तविक समस्यायें नहीं है। मनुष्य की वास्तविक समस्या तो उसकी स्वयं की अज्ञानता है और यही मानवीय समस्याओं का मूल कारण है। मानव की मूल समस्या तो उसकी दरिद्रता, हिंसा, भय मृत्यु, युद्ध, दुःख तथा समष्टि के प्रति असंवेदनशीलता है। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी इन्हीं समस्याओं को अपने दर्शन का मूल विषय बनाते हैं, और उन्हीं विषयों पर गंभीरता पूर्वक वार्ताएँ भी करते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य अज्ञानता के कारण नाना प्रकार के दुःखों को भोग रही है, अतः हमें मनुष्य की मूलभूत समस्याओं पर गहराई से विचार करना चाहिए तथा उनके समाधान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

"हम सब का सरोकार इस बात से है कि विश्व में क्या हो रहा है तथा उसके प्रति हमारा दायित्व क्या है—सारी दुःखद घटनाएँ, परम दुर्दशा गरीबी, बिना किसी कारण लोगों को मार डालना,

---

1. संस्कृति का प्रश्न, जे० कृष्णमूर्ति, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, पृ० 80,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपहरण एवं हत्या की घटनाएँ-आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विभाजन-यही सब हैं जो संसार में हो रहा है।"[1]

स्पष्ट है कि कृष्णमूर्ति जी का दर्शन मानवीय समस्याओं पर विचार करके उसके निराकरण को प्रस्तुत करनेवाला यथार्थवादी दर्शन है, जिसमें मानवीय समस्या का निदान निहित है।

1. परिसंवाद, अंक 10, पृ० 2-3,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

मानवीय मन की समस्याएँ

कृष्णमूर्ति जी का दर्शन मानवीय समस्याओं का यथार्थवादी दर्शन है। अपनी रचनाओं एवं वार्ताओं द्वारा वे बड़े सहज ढंग से जीवन से जुड़ी हुई अस्तित्वगत समस्याओं की गहराई में उतरते हैं और अत्यन्त सहज भाव से व्यावहारिक जीवन के सत्यों को मूर्तिमान कर देते हैं। उनकी वाणी एवं लेखन में किसी प्रकार का दार्शनिक आडम्बर नहीं मिलता, फिर भी उनकी दार्शनिक पद्धति गहन आध्यात्मिक सत्यों को प्रत्यक्ष कर देती है।

खोजी ही खोज का विषय है :

युगों-युगों से मानव-मन एक ऐसी वस्तु की खोज में लगा है जो उसे शाश्वत जीवन, शाश्वत आनन्द तथा परम शांति का रसास्वादन करा सके। कालचक्र एवं मत-मतान्तरों की भिन्नता के कारण भले ही उसे ईश्वर, सत्य, आत्मा, मोक्ष, निर्वाण आदि अनेक नामों से पुकारा जाता रहा है, फिर भी अनेक नामों वाली उस नाम रहित वस्तु की कहीं कोई झलक नहीं दिखाई पड़ती। खोज की सतत् प्रक्रिया में थका-हारा मानवीय मन अपने को भुलाने के लिए एक नवीन तत्व "आस्था" को जन्म दिया जो सारी हिंसा की जड़ है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि ऐसा मानवीय मन जो शाश्वत की तलाश कर रहा है, उसे मेरा सुझाव है कि सर्वप्रथम हमें उस खोजी को ही खोजना चाहिए, जो शाश्वत की खोज में लगा है।

"जब आप कहते हैं कि "मैं स्थायी सुख खोज रहा हूँ" ईश्वर अथवा सत्य अथवा और जो आप चाहें—तो आपको उस वस्तु को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझना चाहिए जो कि उस खोज में लगी है, आपको खोजने वाले को अन्वेषणकर्ता को भी समझना चाहिए"।[1]

कृष्णमूर्ति जी ऐसा अनुभव करते हैं कि खोजी ही खोज का विषय है, द्रष्टा ही दृश्य है तथा विचारक ही विचार है। वास्तविकता यह है कि खोज की आत्यन्तिक गहराई में खोज एवं खोजी का द्वैतभाव मिट जाता है और इस अद्वैत अवस्था में ही शाश्वत जीवन का अनुभव होता है।

"क्या स्पष्टतया यह आवश्यक नहीं है कि किसी स्थायी वस्तु को खोजने के पहले खोजने वाले को समझा जाय? क्या खोजनेवाला उस वस्तु से भिन्न है जिसे वह खोजता है? क्या विचारक विचार से भिन्न है? क्या वे पृथक् क्रियाएँ न होकर एक सम्मिलित घटना नहीं हैं?"[2]

जीवन का अर्थ एवं प्रयोजन :

मानव-मन प्रत्येक घटना को प्रयोजनों की भाषा में सोंचने का अभ्यस्त हो गया है। वह हर कार्य का कारण जानना चाहता है। हमारा मन कभी यह सोच ही नहीं पाता कि कुछ चीजें ऐसी भी हो सकती हैं जिनका न तो कोई कारण होता है और न ही कोई प्रयोजन सकारण वस्तुएँ समय की सीमा में घटित होती है, जबकि कारण रहित वस्तु शाश्वत होती है। उदाहरण के लिए हम सभी के मन में यह प्रश्न चेतन अथवा अचेतन की गहराइयों में अवश्य उठता होगा कि हमारे इस जीवन का क्या अर्थ है? इस जीवन का क्या प्रयोजन है? हम जीवन को निरुद्देश्य क्यों जिये चले जाते हैं? इस प्रश्न के बहुत से उत्तर दिये जा सकते हैं। धन, पद, प्रतिष्ठा, सुख-भोग को आप जीवन का प्रयोजन मानें या सत्य की खोज, मोक्ष की प्राप्ति इत्यादि को जीवन का प्रयोजन मानें, यह हमारी समझ पर निर्भर करता है। परन्तु कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि जीवन स्वयं ही अपने आप में

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, जे० कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसी दास, चौक, वाराणसी, पृ० 11,
2. वही, पृ० 11,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक प्रयोजन है। जो लोग जीवन में कोई अर्थ खोजने का प्रयास करते हैं वे जीवन के जीने के बजाय उससे पलायन का ही मार्ग खोजते हैं। प्रेम एवं करुणापूर्ण जीवन जीने नाला व्यक्ति जीवन में कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं खोजता। प्रेम-विहीन जीवन जीने वाले ही जीवन में किसी अर्थ या प्रयोजन की खोज करते हैं। आपका कहना है कि जीवन पारस्परिकता है, सम्बन्ध है, जीवन संघर्षमय कर्म है। जब हम सम्बन्धों को ठीक से नहीं समझते या हमारे सम्बन्ध भ्रान्त होते हैं तो हम जीवन में अपेक्षाकृत अधिक पूर्णता वाले अर्थ को खोजा करते हैं।

"हम जीवन से क्या समझते हैं ? क्या जीवन का कोई अर्थ है, प्रयोजन है ? क्या जीवन स्वयं उसका प्रयोजन, उसका अपना अर्थ नहीं है ?··· निस्सन्देह वह व्यक्ति जो समृद्धिपूर्ण जीवन जी रहा है, वह व्यक्ति जो वस्तुओं को जैसी वे हैं, देखता है, और जो कुछ उसके पास है उससे संतुष्ट है, वह व्यक्ति भ्रान्त नहीं है। वह स्पष्ट है, अतः वह यह प्रश्न नहीं करता कि जीवन का प्रयोजन क्या है। उसके लिए स्वयं जीना ही आरम्भ और अन्त है।"[1]

सच्चाई यह है कि जिन्होंने भी अपने अन्दर झाँक कर अपने को समझने का प्रयास किया और समष्टि के प्रति अपने सम्बन्धों के वास्तविकता की जाँच पूर्णता एवं समग्रता में की है, उन्होंने पाया है कि समष्टि के प्रति हमारा सम्बन्ध ही प्रेम है, और इस प्रेम के अतिरिक्त कोई और परमात्मा नहीं है।

"जब प्रेम होता है, जो कि उसकी स्वयं अपने में चिरंतनता है, तो ईश्वर की खोज नहीं होती, क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है।····· जीवन के प्रयोजन के विषय में प्रश्न केवल वे ही करते हैं जो प्रेम नहीं करते। प्रेम केवल कर्म में ही मिलता है और कर्म सम्बन्ध है।"[2]

---

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 261,
2. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 262,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख और दुःखभोग :

कष्ट और दु ख ये दोनों भिन्न चीजें हैं। कष्ट का सम्बन्ध शरीर से है, जबकि दुःख मानसिक पीड़ा है। शारीरिक पीड़ा का निवारण तो उचित औषधि के सेवन से किया जा सकता है, परन्तु मानसिक पीड़ा के निवारण के लिए व्यक्ति को अपनी मनोवैज्ञानिक स्थितियों से पूर्णतः परिचित होना पड़ता है। मानव-मन बहु-चित्तवान होता है अर्थात् उसने स्वयं ही अपने को खण्डों में विभाजित कर लिया है। जब वह अपने को अच्छा और बुरा, उँच और नीच, शुद्ध और अशुद्ध आदि अनेक विरोधी खण्डों में बाँट लेता है तो एक खण्ड दूसरे का मूल्यांकन करने लगता है, जिससे मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, यह मानसिक द्वन्द्व की स्थिति ही दुःख का कारण है। एक अखण्ड मन-स्थिति वाले व्यक्ति के दुःखों का समूल नाश हो जाता जब तक हमारा मन इस तथ्य को नहीं देख लेता तब तक हमारे दुःखों का अन्त नहीं हो सकता। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"जब समझ का प्रकाश होता है तभी दुःख समाप्त होता है और यह ज्योति किसी एक अनुभव या समझ की चमक से प्रदीप्त नहीं होती, यह समझ हर समय स्वयं को ही आलोकमय बनाये रखती है। कोई पुस्तक कोई दाँव-पेंच, कोई शिक्षक या उद्धारक, कोई भी आपको यह समझ नहीं दे सकता। स्वयं की समझ ही दु ख का अन्त है।"[1]

सामान्यतः हम समय को भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीन खण्डों में विभाजित करते हैं। भूत एवं भविष्य का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता क्योंकि ये दोनों मनोवैज्ञानिक समय हैं, जिनका अनुभव स्मृतियों एवं कल्पनाओं के द्वारा होता है, परन्तु वर्तमान अस्तित्वगत है। हमारे सारे कार्य वर्तमान में ही होते हैं, कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि हमारे दुःख का कारण वह समय है जो हमारी स्मृतियों से

---

1 आमूल क्रान्ति की आवश्यकता, जे० कृष्णमूर्ति, कृ० फा० इं०, वाराणसी, पृ० 38,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए कल हमने किसी से प्रेम किया और आज वह हमें छोड़ कर चला गया तो उस भूतकाल की स्मृति हमारे दुःख का कारण बनती है। इसी प्रकार यदि भविष्य में हमें किसी से सुख की आशा रही है, परन्तु आज वह आकांक्षा पूरी न हो सकी तो इसकी स्मृति भी हमारे दुःख का कारण बनती है। अतः भूत एवं भविष्य की स्मृति ही हमारे दुःख का कारण है। शुद्ध वर्तमान की कोई स्मृति नहीं होती, इसलिए शुद्ध वर्तमान में जीने वाला कभी भी दुःखी नहीं होता है।

"क्या हम समय को एक विराम और ठहराव दे सकते है? क्या हम इतनी समग्रता से जी सकते हैं कि विचार को बीते हुए या आने वाले कल के बारे में सोचने का अवसर ही न मिले। क्योंकि समय ही तो दुःख है।"[1]

भय :

भय हमारी बड़ी से बड़ी समस्याओं में से एक है। हम सदा किसी न किसी चीज से भयभीत रहते हैं। हमारा मन सदा ज्ञात या अज्ञात के भय से जकड़ा हुआ रहता है। भय से जकड़ा हुआ मन द्वन्द्व एवं उलझन में जीता है और इसीलिए वह हिंसक, विकृत तथा आक्रामक हो जाता है। कृष्णमूर्ति जी भय को मानव मन की एक गम्भीर बीमारी मानते हैं, जो हमारे जीवन को बड़ी गहराई तक प्रभावित करती है। भय का मुख्य कारण यह है कि हम जिस समाज में रहते हैं, वहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिताओं से गुजरना पड़ता है, अतः ये प्रतियोगिताएँ हमारे भय का कारण बनती हैं। आपका कहना है कि :—

"ऐसे भ्रष्ट एवं चौपट समाज में हमारा जीना, भय पैदा करने वाली प्रतियोगिता पर आधारित शिक्षा से हमारा संस्करित होते रहना, इत्यादि अनेक कारणों से हम सब किसी न किसी प्रकार के भय से सर्वदा ग्रस्त रहते हैं। और भय एक ऐसी भयावह वस्तु है

---

1. ज्ञात से मुक्ति, जे० कृष्णमूर्ति, कृ० फा० इं०, वाराणसी, पृ० 81,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके कारण हम टूटकर मुरझाए हुए और बूझे से दिन बिताने पर मजबूर रहते हैं।[1]

यदि हम भय की वास्तविकता को समझने का प्रयास करें। तो हमें ज्ञात होगा कि जीवन में आनेवाली अनिश्चितता ही हमारे भय का कारण होती है। हमारा जीवन एक बँधी हुई लकीर पर चलता है। जब इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन होता है या परिवर्तन की सम्भावना होती है तो अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो आती है और हम भयभीत हो जाते हैं। इस प्रकार जिसे हम भय कहते हैं, वह निश्चितता से अनिश्चितता की ओर जाने की एक घटना मात्र है।

"भय वहीं उत्पन्न होता है जहाँ मेरे अन्दर किसी एक विशेष ढाचे में होने की वासना है। भयहीन जीवन का अर्थ है वह जीवन जिसका कि कोई एक विशेष ढाँचा अथवा रूप नहीं है। एक विशेष प्रकार की जीवन की चाह में ही भय का स्रोत निहित है।"[2]

भय एक मनोवैज्ञानिक प्रकिया है, जिसमें हम जाने या अनजाने किसी व्यक्ति, किसी विचार, किसी सम्पत्ति इत्यादि से तादाम्य कर लेते हैं। किन्हीं कारणों से जब उस तादात्म्य के टूटने की सम्भावना उपस्थित हो जाती है तो हम भयभीत हो जाते हैं। अतः भय से मुक्ति के लिए हमें अपनी समस्त मनोवैज्ञानिक स्थितियों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है अर्थात् आत्मज्ञान ही भय से मुक्ति दिला सकता है। इस सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"यदि आप भय से पूर्णतया मुक्त होना चाहते हैं तो आपके लिए यह अनिवार्य है कि संज्ञा प्रदान करने की, प्रतीकों एवं आकृतियों के प्रक्षेपण की, तथ्यों के नामांकन करने की इस समस्त प्रक्रिया को समझें। आत्मज्ञान होने पर ही भय से मुक्ति सम्भव है। आत्मज्ञान प्रज्ञा का आरम्भ है और प्रज्ञा भय का अन्त है।"[3]

---

1. वही, पृ० 40,
2. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 67,
3. वही, पृ० 169,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु :

मानव-मन सातत्यता में जीता है। जहाँ कहीं उसको सातत्यता में अवरोध दिखाई देता है। वहाँ मन को उसकी मृत्यु का भय बना रहता है। यही कारण है कि मृत्यु का नाम सुनते ही हम काँप उठते है। मृत्यु एक ऐसी घटना हैं जो हमारी वासनाओं, कल्पनाओं, सम्बन्धों तथा सातत्यता को एक क्षण में समाप्त कर देती है। कृष्ण-मूर्ति जी का कहना है कि हम मृत्यु से इसलिए भयभीत हैं कि हमें यह पता ही नहीं है कि जीने का क्या अर्थ है। चूंकि हम ठीक से जीना नहीं जानते, अतः हम मरना भी नहीं जानते। जब तक हम जीवन से भयभीत रहेंगे तब तक मृत्यु से भी भयभीत रहेंगे। जो व्यक्ति जीवन से भयभीत नहीं है वह पूर्णतः असुरक्षित होने से भी भयभीत नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि सुरक्षा नाम की कोई चीज नहीं होती जहाँ आन्तरिक सुरक्षा नहीं होती वहाँ जीवन में एक अनन्त विस्तार होता है, और तब हमें ज्ञात होता है कि जीवन एवं मृत्यु दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं अपितु एक ही चीज के दो छोर हैं। जो व्यक्ति बिना संघर्ष के जीता है, जो सौन्दर्य एवं प्रेम से भरा है, उसे मृत्यु का कोई भय नहीं होता। मृत्यु की महिमा एवं उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आपका कहना है :—

"अगर आप हर ज्ञात चीज के प्रति—आपका परिवार, आपकी स्मृति, अब तक के आपके अनुभव अर्थात् आपके ज्ञान में जो कुछ है अगर आप उसके प्रति मर जायें तो मृत्यु आपको शुद्ध और निर्मल कर देती है मानो यह कायाकल्प और पुनर्जीवन की एक प्रक्रिया हो।"[1]

मृत्यु दो प्रकार की होती है, शरीर की मृत्यु और मन की मृत्यु। शारीरिक मृत्यु तो एक अनिवार्य घटना है, क्योंकि जीवन की ऊर्जा शरीर में सीमित होती है, किन्हीं कारणों से जब यह ऊर्जा समाप्त हो जाती है तो शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। दूसरे प्रकार की मृत्यु मन की होती है, वही वास्तविक मृत्यु है। जब हम अपने विचारों,

1. ज्ञान से मुक्ति, पृ० 84,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभवों, वासनाओं आदि से संबंध विच्छेदित कर लेते हैं अर्थात् अपने अहंकारों के प्रति जीते जी मर जाते हैं तो इस मरण में ही वास्तविक जीवन का आरंभ होता है।

"मरने के बाद क्या होता है, यह जानने का वस्तुतः एक ही उपाय है, और वह यह कि आप मर जाएँ। ..... मरने का अर्थ है मन का पूर्णतः शून्य और खाली हो जाना--अपने प्रतिदिन की आकांक्षाओं, सुखों और दुःखों से खाली हो जाना। मृत्यु एक रूपान्तरण, एक नवीनीकरण है, जहाँ विचार का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि विचार पुराना है। जहाँ मृत्यु है, वहीं कुछ नया जन्म लेता है। ज्ञात से मुक्ति ही मृत्यु है—और तब आपका जीना आरंभ होता है।"[1]

युद्ध और हिंसा :

युद्ध हमारी मानवीय समस्याओं में से एक गंभीर समस्या है। युद्धों में मनुष्य का बड़ा रस रहा है। उसकी सभी समस्याओं का समाधान प्रायः युद्धों से ही होता रहा है। पिछले तीन हजार वर्षों में पूरी मनुष्य जाति ने लगभग पाँच हजार युद्धों को जन्म दिया है। ऐसा लगता है कि युद्ध उतना ही पुरातन है जितनी पुरातन मनुष्य जाति। युद्ध के कारणों को गहराई से जाँचने पर ऐसा ज्ञात होता है कि इसका मूल कारण मानव-मन में छिपी हुई नाना प्रकार की वासनाएँ, वैचारिक विभाजन, संगठित धर्मों की रूढ़ियाँ, राष्ट्रवाद की भावना तथा ऐसे ही अन्य कई प्रकार के विभाजनों ने ही युद्धों को जन्म दिए हैं। युद्ध के कारणों को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कथन है कि :—

"युद्ध का कारण विश्वास है, पूर्वाग्रह है, वह राष्ट्रवाद में हो, किसी विचारधारा में हो अथवा विशेष रूढ़ि में। .....युद्ध का कारण शक्ति, पद, सम्मान, सम्पत्ति की वासना है। उसका कारण वह बीमारी भी है, जिसे राष्ट्रवाद अथवा किसी ध्वज के प्रति श्रद्धा कहा

---

1. ज्ञात से मुक्ति, पृ० 85,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है, और वह बीमारी भी जो कि संगठित धर्म अथवा किसी रूढ़ि की पूजा में प्रकट होता है।"[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव-मन परस्पर विरोधी विचारों से भरा है। युद्ध की जड़ें हमारे मन के अन्तर्विरोधों से पोषण पाती हैं और जीवन ऊर्जा को खण्डों में विभाजित कर देती हैं। यही कारण है कि हम एक ही साथ युद्ध की जड़ों को भी सींचते हैं तथा शान्ति का संदेश भी देते हैं।

युद्ध और हिंसा में कार्य-कारण का सम्बन्ध बनता है। प्राकृतिक विपदाओं तथा आत्मरक्षा की मौलिक आवश्यकताओं के कारण मनुष्य आदिम काल में हिंसक रहा है। हिंसा की यह प्रवृत्ति मानव को पशुओं से ही विरासत में मिली है जो "अस्तित्व के लिए संघर्ष" के कारण प्राकृतिक रही है। हिंसा और युद्धों के कारण ही सभ्यताएं विकाश पाती रही हैं। हमारी तथाकथित सभ्यता का आरम्भ भी हिंसा से ही हुआ है। परन्तु सभ्यता के इस विकास में आज की हिंसा मनुष्य के अस्तित्व के लिए स्वयं एक खतरा बन गई है। विकास की अन्धी दौड़ में उसने अपने विनाश के लिए पर्याप्त सामग्री संचित कर रखी है। हिंसा का कारण भी हमारे मन का विभाजन ही है, जिसके चलते हम अस्तित्व के साथ एकाकार नहीं हो पाते हैं। हिंसा के सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

"जब आप धर्म, परम्परा, राष्ट्रीयता के आधार पर अपने को अलग करते हैं तो इससे हिंसा जन्म लेती है। तो वह आदमी जो हिंसा को समझने की दिशा में प्रयत्नशील है, वह न तो किसी धर्म का है और न तो किसी देश या राजनीतिक पार्टी का। अर्थात् किसी

---

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 163.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी पक्षपाती पद्धति और प्रक्रिया से वह जुड़ा नहीं होता, क्योंकि वह अपना सम्बन्ध समूची मानव जाति से रखता है।"[1]

वास्तव में अहिंसक व्यक्ति वही है जिसने अपने मन की समस्त विभाजनात्मक प्रवृत्तियों को ठीक से समझ कर आत्मज्ञानी हो गया है। अहिंसा को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने वाला मन कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता।

1. ज्ञात से मुक्ति, पृ० 53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

सत्य की सत्ता

सत्य क्या है ?

शब्दकोश के अनुसार सत्य शब्द का अर्थ होता है वर्तमान, विद्यमान, वास्तविक जो वस्तुतः विद्यमान हो। सत्य का अर्थ सत्ता, अस्तित्व, ब्रह्म, परमात्मा से भी लिया जाता है। स्पष्ट है कि सत्य शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में किया जाता है। जो सदा वर्तमान है, जिसकी वास्तव में सत्ता है, जो अस्तित्वगत है, जिसका यह सम्पूर्ण विस्तार है, जो चर-अचर, दृश्य-अदृश्य सबमें समान रूप से व्याप्त है, जो परस्पर विरोधों में भी समाया हुआ है, वही सत्य है।

सत्य की खोज ही जीवन का लक्ष्य है :

जीवन को उसकी समग्रता में जीने से ही जीवन के लक्ष्य का अनुभव होता है। जीवन को खण्डों में नही बाँटा जा सकता, यह एक अखण्ड सत्ता है। परन्तु मानवीय मन जीवन को खण्डों में विभाजित करके देखने का अभ्यस्त हो गया है, जिसके कारण अखण्ड जीवन-ज्योति का हमें दर्शन नहीं हो पाता है। जीवन हमारे-तुम्हारे के रूप में खण्डों में विभाजित नहीं है अपितु यह एक अनन्त प्रवाह है, यही वास्तविकता है, यही सत्य है, और इसी की सत्ता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो पढ़ना-लिखना नहीं जानता, वास्तव में अज्ञानी वह है जो स्वयं की सत्ता से अपरिचित है जो स्वयं की सत्ता से अनभिज्ञ है। ऐसे सत्य की खोज करना ही जीवन का लक्ष्य है। हमारे जीवन ऊर्जा की सार्थकता इसी में है कि हम अपनी अनन्त शक्ति को खोज में लगायें, अन्यथा इस शक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य विनाश एवं पीड़ा का कारण बन कर रह जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मानव के अस्तित्व का केवल एक ही उद्देश्य है और वह है सत्य की खोज करना, परमात्मा की खोज करना।·· निस्संदेह मानवीय मन, जिसमें इतनी आश्चर्यजनक महान् शक्ति है यदि सत्य की, परमात्मा की, खोज नहीं करता तो उसकी शक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य विनाश और पीड़ा का कारण बन जाएगा।"[1]

सत्य की खोज कैसे ?

प्रश्न यह है कि जब सत्य या अनन्त जीवन की खोज ही जीवन का लक्ष्य है तो सत्य का खोजी उस शाश्वत सत्य को जिसमें सम्पूर्ण जीवन समाया हुआ है, और सर्वत्र उसी की सत्ता है, कैसे खोज करे ? सत्य की खोज के लिए कौन-सा मार्ग अपनाया जाय ? किसे अपना मार्ग दर्शन बनाया जाय ? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सत्य एक पथहीन भूमि है, इस तक पहुँचने के लिए किसी भी पन्थ, पुरोहित, क्रिया-कांड तथा गुरु आदि का अवलम्बन नहीं लिया जा सकता, क्योंकि कोई सहारा भी सत्य की खोज में बाधक होता है। वास्तविकता यह है कि सर्वत्र सत्य की ही सत्ता है, परन्तु हमारा मन खण्डों में बँटा है, अतः उस अखण्ड को हम खण्डों में देखने के अभ्यस्त हों गए हैं। जिस प्रकार खण्डित दर्पण में एक ही वस्तु के अनेक प्रतिबिम्ब बनते हैं, उसी प्रकार खण्डित चेतना के दर्पण द्वारा शाश्वत एवं अखण्ड जीवन का अनुभव नहीं हो पाता। अपने अनुभव को प्रकट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि सत्य, शाश्वत जीवत प्रत्येक मनुष्य के भीतर छिपा पड़ा है पर यह स्वचेतनता के द्वारा ढँका हुआ है। सम्पूर्णता में द्वैत भावना नहीं हो सकती क्योंकि द्वैत भावना सिर्फ स्वचेतनता में ही उत्पन्न होती है। शुद्ध कार्य का स्रोत सम्पूर्णता में रहता है, परन्तु अच्छा और बुरा, द्वैत, स्वचेतनता के भ्रम से उत्पन्न होते हैं।"[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 196–197.
2. परसंवाद, अंक 5, पृ० 15.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य निरन्तर गतिशील एवं क्षण-क्षण परिवर्तनशील है :

हेराक्लाइटस के दार्शनिक सिद्धान्त "क्षणभंगवाद" तथा बौद्धों के "क्षणिकवाद" या "अनित्यवाद" की भांति कृष्णमूर्ति जी भी सत्य को निरन्तर गतिशील तथा परिवर्तनशील मानते हैं। उनका कहना है कि सत्य कोई ठोस आदर्श नहीं है, वह कभी स्थिर नहीं रहता; गतिशीलता उसका गुण है, उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है।

"जो वास्तव में है, वह निरन्तर गतिशील है, उसमें निरन्तर मौलिक परिवर्तन हो रहा है, और यदि मन विश्वास द्वारा संचित ज्ञान से जकड़ा रहता है तो वह जो वास्तव में है उसकी तीव्रगति का अनुशीलन करना, उसका अनुगमन करना छोड़ देता है।"[1]

व्यक्ति क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहा है। शरीर के साथ मन के स्तर पर भी यह परिवर्तन निरन्तर होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में सत्य को समझने के लिए एक सतर्क तीव्रग्राही मन की आवश्यकता होती है, जिसमें क्षण-क्षण होने वाले परिवर्तन के निरीक्षण की क्षमता हो और वह आसक्ति तथा तिरस्कार से पूर्णतः मुक्त हो, ऐसा मन ही सत्य को समझने में समर्थ हो सकता है।

"परन्तु जैसा वास्तव में है उसे समझना अत्यधिक कठिन है। है, क्योंकि वह कभी स्थिर, कभी जड़वत नहीं रहता, वह सदा ही गतिशील है।"[2]

पुस्तकालय

सत्य कोई आदर्श नहीं है :

सत्य कोई आदर्श नहीं होता है। आदर्श अवास्तविक होता है, क्योंकि वह कल्पना-प्रसूत है, लेकिन वास्तविकता "जो है" है। सत्य को समझने के लिए क्षण-क्षण अवधान की आवश्यकता होती है। अर्थात् व्यक्ति को उसके मन में घटित होने वाली प्रत्येक छोटी-बड़ी उर्मिकाओं का अवलोकन करना पड़ता है। हम जो क्षण-क्षण सोचते हैं,

1. प्रथम और अंतिम मुक्ति, पृ० 3.
2. प्रथम और अंतिम मुक्ति, पृ० 26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव करते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, वही वास्तविकता है। इसके अतिरिक्त जब वास्तविकता से भिन्न होने की हम परिकल्पना करते हैं तो वह आदर्श बन जाता है। आदर्श का कोई अस्तित्व नहीं होता है। जो अस्तित्वगत नहीं है वह सत्य नहीं हो सकता, अतः सत्य कोई आदर्श नहीं है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है—

"जैसा वास्तव में है वही आप हैं, आप वह नहीं हैं जैसा आप बनाना चाहते हैं। वास्तविकता कोई आदर्श नहीं है, क्योंकि आदर्श अयथार्थ होता है, वास्तविकता वास्तव में वही है, जो आप प्रतिक्षण कर रहे हैं, सोच रहे हैं, और अनुभव कर रहे हैं।"[1]

सत्य का अनुभव वैयक्तिक है :

सत्य कोई ऐसी घटना नहीं है कि एक व्यक्ति दूसरे को हस्तान्तरित कर सके। यदि ऐसा होता तो किसी भी संबुद्ध पुरुष के समसामयिक सभी लोग सत्य को उपलब्ध हो गए होते। वास्तविकता यह है कि सत्य का अनुभव बिल्कुल वैयक्ति होता है। सत्य कोई बाजारू वस्तु नहीं है जिसे आप खरीद सकें, उसे तो स्वयं के मूल्य पर ही प्राप्त किया जा सकता है। जब स्वयं की ऊर्जा, स्वयं के अनुशासन द्वारा सत्य का अन्वेषण करती है तो सत्य स्वतः उद्घाटित हो जाता है।

"जिस प्रकार सरिता स्वयं ही स्वयं को सम्हालने के लिए तटों का निर्माण कर लेती है, इसी भाँति सत्य का अन्वेषण करने वाली हमारी शक्ति भी स्वयं अपना अनुशासन बना लेती है, जिसमें किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं है। अन्त में जिस प्रकार सरिता सागर को खोज लेती है, उसी प्रकार वह शक्ति भी मुक्ति को ढूँढ़ लेती है।"[2]

सत्य संपूर्णता की अनुभूति है :

सत्य कोई विचार की वस्तु नहीं है। उसे सिद्धान्तों या दार्शनिक मत-मतान्तरों के सहारे नहीं जाना जा सकता है। उसकी कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसकी अनुभूति तो तभी होती है, जब हम

---

1. प्रथम और अंतिम मुक्ति, पृ० 26-27.
2. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 198.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी समस्त धारणाओं, पूर्वाग्रहों तथा धार्मिक क्रिया-काण्डों की भाग-दौड़ से थक कर शान्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे मन की एक प्रकार से मृत्यु हो जाती है, अर्थात् हमारा सम्पूर्ण अहंकार विसर्जित हो जाता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें समय ठहर जाता है और वह क्षण सम्पूर्णता का क्षण होता है। ऐसे क्षण में द्रष्टा एवं दृश्य, विचारक एवं विचार में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसी अनुभूति को सम्पूर्णता की अनुभूति कहते हैं, जहाँ अनुभव एवं अनुभव-कर्त्ता में कोई भेद नहीं रह जाता, अर्थात् वे एक ही हो जाते हैं, उनका द्वैत भाव मिट जाता है, यही अद्वैत की अवस्था है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

"सम्पूर्णता का अर्थ है एक ऐसे क्षण में जीना जिसके सम्बन्ध में कभी सोचा नहीं गया है और जिसका सातत्य नहीं है। इसीलिए पूर्णता का विचार नहीं किया जा सकता, और इसे स्थायी बनाने का कोई मार्ग भी नहीं है। केवल वही मन जो अत्यधिक शान्त है, जो पूर्व धारणाएँ नहीं बना रहा है, जो दौड़-भाग नहीं कर रहा है, कल्पना नहीं कर रहा है, वही पूर्णता के क्षण की अनुभूति कर सकता है, ऐसा क्षण जो अपने आप में पूर्ण है।"[1]

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 135.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

आत्म ज्ञान

आत्मज्ञान क्या है ?

मनुष्य एक उभयधर्मी प्राणी है जो एक ही साथ दो प्रकार के जगत् में विचरण करता है। एक जगत् तो वह है जो उसे जन्म से प्राप्त है, जिसे बाह्य जगत् कहते हैं – जड़, जीवन और चेतना का जगत्। दूसरा जगत वह है जो मानव ने विचारों द्वारा निर्मित किया है। इस आन्तरिक जगत् में मनुष्य जाति के समस्त अनुभवों का सार समाया हुआ है। इन्हीं अनुभव का समुच्चय स्व या आत्म है, जिसे अहंकार भी कहा जाता है। क्योंकि इन्हीं अनुभवों से हमारा आकार निर्मित होता है कि "मैं कौन हूँ"। इस "स्व" या "आत्म" (आत्मा नहीं) का ज्ञान होना ही आत्मज्ञान है। कृष्णमूर्ति जी ने इस आत्म-ज्ञान की बड़ी महिमा गायी है। उनका कहना है—

"भले ही आप विश्व की समस्त उपाधियाँ प्राप्त कर लें, लेकिन यदि आप अपने आपको नहीं जानते तो आप महामूढ़ व्यक्ति हैं। सम्पूर्ण शिक्षा का मूल उद्देश्य ही अपने आप को जानना है, आप भले ही बहुत जानकारी इकट्ठा कर लें, बहुत सा पढ़-लिख लें, परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लें, परन्तु आत्मज्ञान की अनुपस्थिति में ये सब जीवन के ना समझी के रास्ते हैं।"[1]

'स्व' की सत्ता :

अनुमान किया जाता है कि लगभग पचीस लाख वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर रहता आ रहा है। उसने नाना प्रकार की कल्पनाओं, धार-

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 114.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णाओं और अनुभवों का संग्रह किया है। विज्ञान के क्षेत्र में तो उसने पर्याप्त प्रगति कर ली है, परन्तु मनुष्य का आन्तरिक स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न पर बहुत कम विचार किया गया है। हमने यह जानने का बहुत कम प्रयास किया है कि 'मैं कौन हूँ ?', 'मेरी सत्ता क्या है ?' मेरे 'स्व' का निर्माण कैसे होता है ? वास्तव में यही वे प्रश्न हैं जिस पर गहराई से विचार किया जाना आवश्यक है। 'स्व' की सत्ता के सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति का कथन है—

'स्व' से हम क्या समझते हैं ? इससे मेरा तात्पर्य एक धारणा, स्मृति, निष्कर्ष, अनुभव उल्लेखनीय और अनुल्लेखनीय अभिप्रायों के विभिन्न रूप, कुछ होने या न होने के लिए सचेतन प्रयास, अचेतन में संग्रहीत स्मृति, प्रजाति, समूह, व्यक्ति, वंश और इन सबकी समग्रता है, चाहे वह बाहर किसी कर्म के रूप में प्रक्षिप्त होती है अथवा आध्यात्मिक रूप से किसी सद्गुण के रूप में; इस सबके लिए प्रयास ही 'स्व' है और इसी में प्रतियोगिता अर्थात् कुछ होने की इच्छा भी सम्मिलित है। 'स्व' यह तमाम प्रक्रिया ही है।'[1]

द्रष्टा और दृश्य :

मानव-मन अपने नाम, पद, कर्म के अतिरिक्त संस्कारों, विचारों, आदर्शों, परम्पराओं एवं अनुभवों के द्वारा 'मैं' की एक प्रतिमा निर्मित करता है। यही वह प्रतिमा है जिसे हम द्रष्टा कहते हैं। स्वयं के साथ-साथ यह मानव-मन दूसरों के बारे में भी प्रतिमा निर्मित करता रहता है। मैं ज्ञानी हूँ, मैं अहिंसक हूँ, मैं करुणावान दयावान हूँ, मैं आदर्शवादी हूँ—ये सब अपने बारे में बनाई गई प्रतिमा की विशेषताएँ हैं, जबकि दूसरे मूढ़ अज्ञानी, निर्दयी एवं अहंकारी हैं, ऐसा हम समझते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा दूसरों के बारे में प्रतिमाएँ निर्मित करता रहता है। अपने बारे में बनाई गई प्रतिमा जो 'द्रष्टा' है अन्य के बारे में बनाई गई प्रतिमा का जो दृश्य है, सदा मूल्यांकन करता रहता है। यह द्रष्टा अपने भीतर एक नहीं बल्कि अनेकों प्रतिमाओं को देखता है, जो वस्तुतः उसी की कृतियाँ हैं। यह

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 58.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रष्टा एक स्थिर या जड़ वस्तु नहीं है बल्कि जो कुछ वह है उसमें सदा कुछ न कुछ जोड़ता और घटाता रहता है। दूसरे के बारे में बनाई गई प्रतिमा का जब द्रष्टा मूल्यांकन करता है तो उस मूल्यांकन से स्वयं की प्रतिमा का निर्माण होता है, इस प्रकार द्रष्टा एवं दृश्य दोनों एक ही हैं। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'केन्द्रीय प्रतिमा यानी वह द्रष्टा ही अनुभवकर्त्ता, मूल्यांकनकर्त्ता और निर्णायक है, जो दूसरी सभी प्रतिमाओं पर विजय पाना चाहता है या उन्हें अपने अधीन करना चाहता है या फिर पूरी तरह उसे नष्ट कर देना चाहता है। लेकिन चूँकि दूसरी सभी प्रतिमाएँ द्रष्टा के मतों एवं निर्णयों के फल हैं और द्रष्टा स्वयं उन सभी प्रतिमाओं का फल है – इसलिए द्रष्टा ही दृश्य है।'[1]

आत्मज्ञान की साधना :

आत्मज्ञान की साधना के लिए साधन के रूप में विश्व में अनेक ध्यान पद्धतियों का विकास हुआ है। प्राचीन पद्धतियों के साथ ही नवीनतम् पद्धतियों का प्रयोग भी विभिन्न साधना केन्द्रों पर प्रचलित हैं। विश्व में प्रचलित सभी ध्यान पद्धतियों का खण्डन करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है—

'हमें किसी दूसरे से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे किसी पुस्तक के माध्यम से प्राप्त किया जा सके इसकी खोज हमें ही करनी पड़ेगी, और इस खोज के लिए संकल्प, अनुसंधान, अन्वेषण आवश्यक है। और जब तक इस खोज का गंभीरता पूर्वक अन्वेषण करने का संकल्प शिथिल है अथवा उसका अस्तित्व ही नहीं है तो अपने को जानने की किसी आकस्मिक इच्छा मात्र का अथवा तत् विषयक किसी कथन मात्र का कोई महत्व नहीं है।''[2]

---

1. ज्ञान से मुक्ति, पृ० 108.
2. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 25.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंकार एक भ्रान्ति :

अहंकार एक भ्रान्ति है जो मन के दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है। मैं का भाव सत्य की अनुपस्थिति है, जैसे अन्धकार का कोई अस्तित्व नहीं होता जो मात्र प्रकाश का अभाव है। उसी प्रकार जब सत्य का आगमन होता है, तो अहंकार अर्थात् 'मैं' का भाव अपने आप विसर्जित हो जाता है। अहंकार एक अस्थायी चीज है, यह सबसे बड़ा झूठ है। अहंकार वस्तुतः है ही नहीं, यह हमारी कल्पनाओं, मनोभावों तथा इन्द्रियों की अनुभूति से मोह होने के कारण उत्पन्न होता है। अहंकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है—

'अहंकार यानी 'मैं' एक अस्थायी चीज है, वह एक भ्रान्ति है, वह लक्षणों और विशेषताओं का एक समूह है, वह सद्गुणों, दुष्कर्मों और आदर्शों का एक केन्द्र है। ···मैं का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। 'मैं' कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो स्वयं कोई चीज अनुभव करती है, दरअसल आप अनुभव करते हैं और 'मैं' उत्पन्न हो जाता है, आप के भीतर विचार उठता है और 'मैं' उत्पन्न हो जाता है, आप के भीतर प्रबल भाव उठते हैं और 'मैं' उत्पन्न हो जाता है।'[1]

आत्मज्ञान मुक्ति का स्वरूप है :

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जब तक मनुष्य अपनी स्वचेतना के दायरे में लिपटा रहेगा तब तक उसकी समस्याएँ भी बनी रहेंगी, क्योंकि 'स्व चेतना' सम्पूर्ण सत्ता से व्यक्ति को अलग कर लेती है और यह अलगाव ही सम्पूर्ण मानवीय समस्याओं की आधार शिला है। स्व-निर्मित चेतना का अन्त होते ही व्यक्ति समष्टि का हिस्सा हो जाता है। इसी अवस्था का सम्बोधन वैदिक ऋषियों ने 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्वमसि' जैसे महावाक्यों द्वारा किया है। इसी अवस्था में शून्यता का बोध होता है यही परम सुख और परम शान्ति की अवस्था है, जिसकी मनुष्य को तलाश है। मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

---

1. परिसंवाद, अंक 8. पृ० 16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मुक्ति' मन की एक अवस्था है। यह किसी चीज से 'मुक्ति' नहीं है, बल्कि उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता का एक बोध है। ऐसी मुक्ति का अर्थ है निपट एकाकीपन में होना जिसमें न कोई परम्परा है, न कोई सत्ता है और न किसी का नेतृत्व है।'[1]

आत्मज्ञान सद्गुण है :

हमारी परम्परा हमें नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। वह हमें सद्-गुणी बनने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि वास्तविक सद्गुण तो आत्मज्ञान से प्राप्त होता है और सद्गुणी व्यक्ति ही नैतिक होता है। वही यथार्थ को भी समझ सकता है। सद्गुण से व्यक्ति भय मुक्त होता है और अन्त में स्वयं को समझकर मुक्ति का वरण करता है। किसी अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया गया सद्गुण कभी भी मुक्ति नहीं दिला सकता और न ही वह आत्मज्ञान में ही सहायक होता है। जिसे हम सद्गुण या नैतिकता समझते हैं, उसे यदि बहुत समीप से देखा जाय तो वह स्वयं से बचने का एक प्रयास है।

'आप क्या हैं इसे समझना, चाहे वह सुन्दर हों अथवा कुरूप हो, दुष्ट हों, शरारतपूर्ण हों – आप जैसे वास्तव में हैं उसे बिना किसी विरूपण के समझना ही सद्गुण का आरम्भ है। सद्गुण अनिवार्य है क्योंकि वह स्वतन्त्रता प्रदान करता है। वह सद्गुण ही है, जिसमें आप अन्वेषण कर सकते हैं, जिसमें आप जीवित रह सकते हैं, परन्तु अभ्यास से प्राप्त सद्गुण नहीं जो सम्मान तो दिला देता है परन्तु ज्ञान और स्वतन्त्रता नहीं देता।'[2]

आत्मा का स्वरूप :

भारतीय दर्शन में सामान्यतः आत्मा की बड़ी महिमा है। परन्तु आत्मा के सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति जी का विचार भारतीय दर्शन में

---

1. ज्ञात से मुक्ति, पृ० 74.
2. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आत्मा के स्वरूप' से भिन्न है। उनका कहना है कि सामान्य तथा जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह हमारा अहंकार ही है जो द्रष्टा के रूप में होता है। यह आत्मा हमारी सभ्यता, संस्कृति, अपेक्षा और आकांक्षा का ही परिणाम है। वैसे तो आत्मा के सम्बन्ध में हमने ऐसा विचार बना लिया है कि वह हमारे भौतिक शरीर से परे कोई अमृत तत्त्व है जो अधिक महान्, अधिक व्यापक, अक्षय और अमर है। कृष्णमूर्ति जी का कथन है—

'हमारी संस्कृति एवं सभ्यता ने, जो अनगिनत मानवों की सामूहिक अपेक्षा और आकांक्षा है, इस 'आत्मा' शब्द का आविष्कार किया है। इसी सामूहिक इच्छा ने कहा – इस भौतिक शरीर के परे जो मरता है, नष्ट होता है, कुछ न कुछ ऐसी वस्तु जरूर होनी चाहिए जो अधिक महान् है, व्यापक है, अक्षय है, अमर है। इस प्रकार आत्मा के विचारों की स्थापना हुई।'[1]

स्पष्ट है कि कृष्णमूर्ति जी की दृष्टि में 'आत्मा' शब्द एक प्रकार का विचार है, जबकि आत्मा सम्बन्धी विचार आत्मा नहीं है। आत्मा तो चैतन्य की एक ऐसी अवस्था है जहाँ मृत्यु की कोई झलक नहीं होती और इस अवस्था की खोज विरला ही कोई स्वयं के लिए करता है। इस अमरत्व की अवस्था को कृष्णमूर्ति जी 'आत्मा' मानते हैं—

'यदा-कदा इने-गिने व्यक्तियों ने अपने लिए इस अद्भुत 'अमरत्व' की एक ऐसी अवस्था की खोज की होगी, जहाँ मृत्यु नहीं है।'[2]

अहंकार विकारों की जननी है :

अनुभवकर्त्ता अर्थात् अहंकार की अनुपस्थिति में ही आनन्द की अनुभूति होती है। जब यह अनुभूति स्मृति का रूप ले लेती है तो वहीं से विचार आरम्भ हो जाता है, जो उस अनुभव की पुनरावृत्ति चाहता

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 37.
2. वही, पृ० 38.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पुनरावृत्ति का यह विचार ही हमारी वासना है जो आनन्द को सुख में परिवर्तित कर देती है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'आनन्द की अनुभूति भी सूक्ष्म प्रतिक्रिया है लेकिन तभी विचार आ टपकता है और अपने करतूतों से आनन्द को सुख में परिणत करदेता है। अर्थात् विचार उस अनुभूति को दोहराना चाहता है और जितना अधिक आप दोहराते हैं, उतना ही वह यान्त्रिक हो जाता है।'[1]

चूंकि अहंकार हमारे अनुभवों की गठरी है, जहाँ से अनुभवों के पुनरावृत्ति करने या न करने की वासना उठती है। अतः अहंकार ही वासना की जड़ है। जब हमें आकांक्षित सुख की प्राप्ति नहीं होती तो सुख प्राप्ति में बाधक तत्वों के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है, और सुख की प्राप्ति हो जाने पर यह सुख हमसे कहीं छिन न जाय यह विचार भय पैदा करता है। सुख पर हमारा सदा अधिकार रहे और अन्यान्य स्रोतों से हमें और-और सुख प्राप्त होते रहें, यही विचार लोभ को जन्म देता है। इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेने पर हमारा अहंकार और मजबूत हो जाता है, यही मद है। यदि अमुक वस्तु हमें प्राप्त न होकर किसी अन्य को प्राप्त हो गयी तो जिसे वह प्राप्त हो गयी है, उससे ईर्ष्या पैदा होती है, यही मत्सर है। इस प्रकार अहंकार के कारण हम आन्तरिक युद्ध क्षेत्र निर्मित कर लेते हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि—

'क्या आपने ध्यानपूर्वक देखा है कि जब आप किसी छोटे सुख से भी वंचित कर दिए जाते हैं, तो आप पर क्या गुजरती है। जो आप चाहते हैं, वह आप को जब नहीं मिलता तो आप चिन्ता, घृणा और ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं और अपने भीतर कैसी लड़ाइयों से गुजरना पड़ता है।'[2]

1. ज्ञात से मुक्ति, 34.
2. ज्ञात से मुक्ति, पृ० 36.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम अध्याय

ज्ञान और प्रज्ञा

ज्ञान सीमित एवं अनुभव प्रसूत है :

सोच विचार की क्षमता रखने के कारण मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। अपनी वैचारिक क्षमता के कारण ही मनुष्य ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार किए हैं। गूढ़ से गूढ़तम सिद्धान्तों एवं काव्यों की रचना उसकी विचारणा का ही परिणाम है। अपनी वैचारिक क्षमता एवं कल्पना शक्ति के द्वारा उसने नाना प्रकार के देवी-देवताओं का भी आविष्कार किया है। हमारा कथित ईश्वर भी हमारे वैचारिक क्षमता का ही परिणाम है। सृष्टिवाद के अनुसार तो हम सभी ईश्वर की कृतियाँ हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि ईश्वर मनुष्य की कृति है। यह सब उसकी विचारणा एवं कल्पना का ही परिणाम है। मनुष्य के विचारों, कल्पनाओं एवं अनुभवों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। सामान्य व्यक्ति से लेकर ज्ञानी और महाज्ञानी तक, सभी अपने तथा दूसरों के अनुभवों का सदा संग्रह करते रहते हैं। इसी अनुभव संग्रह का नाम ही 'ज्ञान' है। इस प्रकार कृष्णमूर्ति जी के शब्दों में—

'जब कोई अनुभूति होती है तो ज्ञान उपजता है। ज्ञान अनुभव-प्रसूत है।'[1]

हमारा अनुभव सदा सीमित होता है, क्योंकि नित नया अनुभव हमारे ज्ञान में वृद्धि करता रहता है। चूंकि हमारा अनुभव सीमित है, अतः हमारा ज्ञान भी सीमित होता है। ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता, इसीलिए हम नये-नये अनुभवों के द्वारा ज्ञान में वृद्धि करते रहते हैं,

---

1. परिसंवाद, अंक 1, पृ० 25.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी ज्ञान में लगातार वृद्धि करने की सम्भावना बनी रहती है। ज्ञान की सीमा को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'सभी अनुभव सीमित हैं, क्योंकि वैज्ञानिक उसमें और अधिक और अधिक जोड़ रहे हैं। जिसमें निरन्तर कुछ न कुछ जोड़ा जाता हो, जिसमें हमेशा कुछ जोड़े जाने की अनंत सम्भावना हो, वह सर्वदा सीमित है।'[1]

स्मृति अंकित ज्ञान का परिपाक है :

ब्रह्माण्ड में जो कुछ घटित हो रहा है, उसका अनुभव मनुष्य को सदा उसके ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता रहता है। अनुभव से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और जब यह ज्ञान हमारे मस्तिष्क पर अंकित हो जाता है तो वह स्मृति बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी स्मृति हमारे अंकित ज्ञान का परिपाक है। स्मृतियों पर अंकित ज्ञान से हमारे जीवन की पुस्तक का निर्माण होता है। इसी पुस्तक को पढ़कर हम बीती घटनाओं की याद किया करते हैं।

'आपने कल कुछ किया और जो कुछ आपने किया वह मस्तिष्क में अंकित हो गया जो कि स्मृति बन जाता है और इस स्मृति के अनुसार आप सोचते और कार्य करते हैं – आपने इन सबको अंकित कर एक किताब लिख रखी है। इसी से आप याद किया करते हैं। वह स्मृति, अंकित ज्ञान का परिपाक है।'[2]

स्मृति विचार का स्रोत है :

हमारे सभी विचार स्मृतियों से उठते हैं। स्मृति के बिना हम कोई विचार कर ही नहीं सकते। अतः स्मृति हमारे सभी विचारों का स्रोत होती है। यदि किन्हीं कारणों से हमारी स्मृति समाप्त हो जाय तो हमें बीते हुए जीवन के बारे में कुछ भी स्मरण नहीं रह जाता। अर्थात् हमारा सारा ज्ञान समाप्त हो जाता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

---

1. परिसंवाद, अंक 1. पृ० 25.
2. वही, पृ० 24–25.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यदि आप के पास कल की अथवा कल जो होगा, उसकी स्मृति न रहे या किसी प्रकार की कोई स्मृति न हो तो आप सोच ही नहीं सकते।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृति से विचार उत्पन्न होता है, विचार से कर्म होता है, कर्म से अनुभव मिलता है, अनुभव से ज्ञान होता है, ज्ञान से स्मृति बनती है, स्मृति पुनः विचारणा को जन्म देती है, जो कर्म के लिए प्रेरित करता है। यही वह है जिसमें हम सभी लोग चक्कर काटते रहते हैं, इसी को भव-सागर, इसी को भव-बन्धन या संसार कहते हैं। संसार कोई बाहरी चीज़ नहीं है, वह हमारे कर्मों का ही जाल है। कर्म, अनुभव, स्मृति, विचार से निर्मित यह वृत्तीय मानव-यात्रा ही संसार है।

प्रत्यक्ष ज्ञान प्रज्ञा है :

हम वस्तुओं को सदैव आंशिक रूप से देखते हैं, क्योंकि हमारा देखना लापरवाही से भरा, पूर्वाग्रह से ग्रसित तथा शाब्दिक व मनोवैज्ञानिक प्रतिमाओं द्वारा होता है। हम किसी भी चीज को सम्पूर्णता से नहीं देख सकते, यह एक अत्यधिक कठिन कार्य है। हम किसी चीज को उसकी सम्पूर्णता में तभी देख सकते हैं जबकि हमारा मानस शान्त हो। विचारों के नेत्रों द्वारा किया गया अवलोकन आंशिक होता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी पुष्प को देखते हैं तो इस अवलोकन की क्रिया में हमारा वानस्पतिक ज्ञान भी सम्मिलित हो जाता है, जो अवलोकन को दूषित कर देता है। सड़क पर जाते किसी विषधर को देखकर हमारी जो क्रिया होती है, वह सम्पूर्णता की होती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में जब हमारे जीवन को ही खतरा उत्पन्न हो जाता है तो हम यह आंकलन थोड़े ही करते हैं कि यह विषधर किस वेग से किस दिशा में जा रहा है। वहाँ तो सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मन तथा शरीर एक साथ सक्रिय हो जाते हैं और हम तत्काल मार्ग से दूर हट जाते हैं। जब हम अपनी संवेदन शीलता और चुनाव रहित सजगता से

1. परिसंवाद, अंक 1. पृ० 24.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी घटना को उसकी सम्पूर्णता में देखते हैं तो यह अवलोकन ही प्रत्यक्ष ज्ञान है जो प्रज्ञा को जन्म देता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'आप यह सत्यता नहीं देखते हैं कि केवल शान्त मानस ही है जो देख सकता है। शांत मानस कैसे मिले, यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह सच है कि मानस को शान्त होना चाहिए, और इस सच्चाई के अवलोकन से ही मानस प्रलाप से मुक्त हो जाता है। जब ऐसा होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान जो प्रज्ञा है, सक्रिय हो जाती है।'[1]

सम्पूर्ण चेतना :

मानवीय चेतना का क्षेत्र विराट् है। इसी क्षेत्र में विचारों, विश्वासों तथा सम्बन्धों आदि का जाल फैला हुआ है। हमारे सारे उद्देश्य, आशाएँ, इच्छाएँ सुखभोग, भय, अन्तः प्रेरणा तथा हर्ष और विषाद चेतना जगत् के ही अंग हैं। इन्हीं कारणों से हमारी चेतना प्रतिबद्ध हो जाती। जब भी हम आन्तरिक जगत् में प्रवेश करते हैं, हमारा मिलन इन्हीं प्रति-बद्धताओं से होता है। चुनाव रहित सजगता द्वारा धीरे-धीरे हमारा परिचय अपनी सम्पूर्ण चेतना से होने लगता है। सम्पूर्ण चैतन्य की अवस्था में किया गया कार्य पावन एवं पवित्र होता है, क्योंकि जो सम्पूर्ण (होल) है वही पवित्र (होली) है। हमारा अधिकांश जीवन चेतना के ऊपरी तल पर ही जीते हुए बीतता है, चेतना का शेष भाग हमारे अवचेतन का जगत् है, जो हमारी दृष्टि और बोध से ओझल होता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है—

'जब आप चेतना के सम्पूर्ण क्षेत्र के प्रति समग्र रूप से सजग और सचेत होते तो आपके भीतर संघर्ष के लिए जगह नहीं बचती। संघर्ष केवल तभी पैदा होता है जब आप चेतना को, जो हमारे सम्पूर्ण विचार, अनुभूति, कृत्य का भण्डार है – विभिन्न तल और हिस्सों में बाँट देते हैं।'[2]

---

1. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता, पृ० 93.
2. ज्ञात से मुक्ति, पृ० 26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान प्रज्ञा का उपकरण है :

ज्ञान अनुभव प्रसूत है जो स्मृतियों के रूप में हमारे मस्तिष्क में संचित रहता है। कृष्णमूर्ति जी ज्ञान के तीन स्वरूप मानते हैं। एक तो 'वैज्ञानिक ज्ञान' है, जिसमें ऐतिहासिक, भौगोलिक, भाषा शास्त्रीय, गणितीय तथा वैज्ञानिक विषयों का ज्ञान समाहित है। दूसरा 'सामूहिक ज्ञान' है जिसमें हमारे पूर्वजों के अनुभव से उत्पन्न ज्ञान का संचयन है। तीसरा 'व्यक्तिगत ज्ञान' है, जो हमारे व्यक्तिगत अनुभवों से प्राप्त हुआ है। हमारे दैनिक जीवन में ज्ञान की बड़ी उपयोगिता है। जैसे जीविकोपार्जन के लिए बौद्धिक तथा तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है, कहीं जाने लिए भौगोलिक ज्ञान की आवश्यकता होती है, शरीर-सुरक्षा के लिए चिकित्सकीय ज्ञान की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान की बड़ी उपयोगिता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर की स्मृति बड़ी खतरनाक होती है क्योंकि वह सत्य के स्वरूप को समझने में बाधक है। उदाहरण के लिए यदि हम पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं, किसी चीज के सम्बन्ध में हमारे निश्चित मत है तो हमारे चिन्तन में स्पष्टता नहीं रह जाती, यदि हम संवेदनशील नहीं हैं, जागरूक नहीं हैं, तो हमें किसी भी चीज का स्पष्ट बोध नहीं हो सकता। स्पष्ट बोध के लिए ज्ञान के साथ नीर-क्षीर विवेचन की क्षमता अर्थात् प्रज्ञा भी होनी आवश्यक है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

"आप में "प्रज्ञा" है। इस कथन में निहित है कि आप पृथ्वी के सौन्दर्य का, वृक्षों के सौन्दर्य का, आकाश के सौन्दर्य का, सुन्दर सूर्यास्त का, तारों के सौन्दर्य का तथा सूक्ष्मता के सौन्दर्य का अवलोकन कर सकते हैं।"[1]

ज्ञान का उपयोग प्रज्ञा द्वारा होना चाहिए। ज्ञान का उपकरण की भाँति होना चाहिए जिसका उपयोग प्रज्ञा के द्वारा किया जा सके। उदाहरण के लिए चाकू का उपयोग आदि प्रज्ञापूर्ण तरीके से किया

---

1. शिक्षा संवाद, जे० कृष्णमूर्ति, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया, वाराणसी, पृ० 13,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो आपरेशन द्वारा किसी के जीवन की रक्षा हो सकती है, परन्तु उसी चाकू से किसी का जीवन भी लिया जा सकता है। यह चाकू पर निर्भर नहीं है अपितु उसके प्रयोगकर्त्ता पर निर्भर है। यदि चाकू व्यक्ति का उपयोग करने लगे तो वह खतरनाक है। ऐसे ही ज्ञान जब व्यक्ति का उपयोग करने लगता है तो समाज खतरे में पड़ जाता है। ज्ञान का विनाशकारी प्रयोजनों के लिए उपयोग खतरनाक होता है, यही है जो आजकल विश्व में हो रहा है जब प्रज्ञा ज्ञान का उपयोग साधन की भाँति करती है तो वह समाज के लिए हितकारी होता है। कृष्णमूर्ति जी के शब्दों में :—

"ज्ञान प्रज्ञा के द्वारा कार्य नहीं कर सकता है, किन्तु प्रज्ञा ज्ञानपूर्वक कार्य कर सकती है। अर्थात् वह ज्ञान का उपयोग कर सकती है। मात्र ज्ञान हमारी मानवीय समस्याओं को कभी हल नहीं कर सकता, इस तथ्य की समझ ही प्रज्ञा है।"[1]

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, जे० कृष्णमूर्ति, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इंडिया, वाराणसी, 13,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

ध्यान

ध्यान क्या है ?

विभिन्न शब्दकोशों के आधार पर ध्यान शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, मापना, तौलना, विचार करना, सोचना, सावधानी से देखना। परम्परागत रूप में ध्यान का अर्थ होता है मन को किसी एक विन्दु पर एकाग्र करना या किसी मूर्ति के समक्ष बैठकर अपने मन को उस पर केन्द्रित करना या किसी विशेष आसन तथा मुद्रा में बैठकर पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करना। यही सब है जो ध्यान के रूप में किया जाता है। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि ध्यान करने की जो पारम्परिक विधियाँ अपनायी जाती हैं, उससे बुद्धि मन्द हो जाती है। इन क्रियाओं द्वारा कुछ समय के लिए मन अवश्य शांत हो जाता है जिसे हम ध्यान की उपलब्धि मानने हैं। आपका कहना है :—

"ध्यान जैसा कि अब है, वह है दोहराना, दिमाग को मन्द करना, मन्द होने से वह शांत हो जाता है और आप सोचते हैं कि आपको कोई अद्भुत वस्तु मिल गई है।" [1]

साधारणतः ध्यान एक प्रकार का अभ्यास समझा जाता है, जिसे सुबह-साँझ हम किया करते हैं। जैसे हम विभिन्न वाद्ययन्त्रों का या गायन का अभ्यास करते हैं, ध्यान ऐसा कुछ नहीं है। अभ्यास हमें किसी पूर्णता की ओर ले जाता है जबकि ध्यान में न कुछ पाना होता है न ही उसकी कोई पूर्णता है, यह जान-बूझ कर की गयी कोई प्रक्रिया भी नहीं है। ध्यान न तो किसी परम्परा का रूप ले सकता है न ही इसे कोई आपको सिखा सकता है। ध्यान का पूरा अर्थ है—

1. परिसंवाद, अंक 3, पृ० 30,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन का पूर्ण रूप से शांत हो जाना, मन जो इधर-उधर भटक रहा हैं कभी चेतन तो कभी अचेतन भाग में, जब वह एक दम मौन हो जाता है तो यही ध्यान की अवस्था है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"ध्यान का अर्थ है बिना किसी प्रयत्न तथा बिना किसी जोर जबरदस्ती के मन तथा मस्तिष्क को उनकी सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाना, सर्वोच्च प्रज्ञा तक ले जाना ताकि वह असाधारण रूप से संवेदनशील हो सके। तब मस्तिष्क एकदम मौन हो जाता है। इसके अतीत का वह संग्रह, जो लाखों वर्षों से अब तक विकसित हो रहा था, जो अविराम रूप से लगातार क्रियाशील था, शांत हो जाता है।"[1]

यदि आप वास्तव में ध्यान करते हैं तो आप सदाचारी एवं नैतिक अवश्य होंगे। ऐसी नैतिकता नहीं जो किसी अभ्यास, सामाजिक दवाव या किसी आदर्श का परिणाम है, अपितु ऐसी नैतिकता जो अपने विचार, अपनी भावनाओं, अपने क्रिया-कलापों, अपनी वासनाओं एवं महत्वाकांक्षाओं आदि के प्रति निर्विकल्प रूप से पूर्णतया सजग होने से प्राप्त होती है। और इसी अवस्था में ही सही कृति का जन्म होता है। ध्यान क्या होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है[2] :—

* ध्यान का अर्थ है विचार का अन्त होना, और तभी एक भिन्न आयाम प्रकट होता है जो समय से परे है। (ध्यान-प्राक्थन)।
* ध्यान किसी साध्य का साधन नहीं है। यह साध्य और साधन दोनों है। (ध्यान, पृ० 12)।
* 'जो है" उसको देखना और उसके पार चला जाना ही ध्यान है। (ध्यान, पृ० 18)।

---

1. गरुण की उड़ान, जे० कृष्णमूर्ति, कृ० फा० इ०, वाराणसी, पृ० 92.
2. ध्यान, जे० कृष्णमूर्ति, कृ० फा० इं०, वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* ध्यान करने का अर्थ है, समय के प्रति अबोध हो जाना। (ध्यान, पृ० 29)।
* ध्यान मन के भीतर वह ज्योति है, जो क्रिया के मार्ग को अवलोकित करती है। और इस ज्योति के बिनाप्रेम का कोई अस्तित्व नहीं है। (ध्यान, पृ० 31)
* ध्यान का अर्थ है ऊर्जा का समग्र रूप से निर्बन्ध और निर्मुक्त हो जाना। (ध्यान, पृ० 37)।
* मौन से जन्म लेने वाली क्रिया ही ध्यान है। (ध्यान पृ० 55)
* ध्यान विचार से मुक्ति है तथा सत्य के आनन्द में जीना है। (ध्यान, पृ० 57)।
* ध्यान मन की वह अवस्था है, जिसमें मन प्रत्येक चीज को पूर्ण होश के साथ समग्रतापूर्वक देखता है, न कि उसके केवल खण्डों को। (ध्यान, पृ० 61)।
* ध्यान एकाग्रता नहीं है। एकाग्रता का अर्थ है बहिष्कार, अलगाव, प्रतिरोध और इसलिए एक संघर्ष। एक ध्यान पूर्ण मन एकाग्र हो सकता है—तब यह बहिष्कार और प्रतिरोध नहीं है, लेकिन एक एकाग्र मन ध्यान पूर्ण नहीं हो सकता। (ध्यान, पृ० 44)

एकाग्रता, अवधान और सजगता :

जब हम अपनी चेतना को सब तरफ मे हटाकर एक बिन्दु विशेष पर केन्द्रित करते हैं तो इस क्रिया को एकाग्रता कहा जाता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकाग्रता आवश्यक है, परन्तु मन की पूर्णता को समझने के लिए एकाग्रता बाधा बन जाती है। अवधान सम्पूर्ण का वह अवलोकन है, जिसमें तादात्म्य या तिरस्कार का पूर्ण अभाव होता है। एकाग्रता ससीम है जबकि अवधान असीम है। एकाग्रता से ज्ञान होता है जबकि अवधान से अवबोध होता है। एकाग्रता में एक के अतिरिक्त अन्य का तिरस्कार है जबकि अवधान निस्संकल्प अवलोकन है। स्पष्ट है कि :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"एकाग्रता मन को एक विन्दु पर केन्द्रित करने की प्रक्रिया है, जबकि अवधान की कोई सीमा नहीं है। एकाग्रता से ज्ञान प्राप्त होता है, पर ज्ञान का कोई भी विस्तार सीमित है। अवधान की अवस्था में मन ज्ञान का उपयोग कर सकता है, जो निश्चित ही एकाग्रता का प्रतिफल है। ···अवधान की वजह से ही मन में शान्ति आती है जो सृजन के द्वार खुल जाने जैसा है। इसलिए अवधान सर्वोपरि महत्त्व का है।'[1]

अन्वेषण अवधान की लौ होती है, जिसके प्रकाश में सत्य की खोज आरम्भ होती है। जब हम अत्यन्त सतर्क एवं सचेत होकर किसी वस्तु की प्रत्येक गतिविधि का निरीक्षण करते हैं तो इस क्रिया को सजगता कहते हैं। सजगता की क्रिया में हमारी सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा हृदय सभी कुछ लगा होता है। सजगता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है—

'सजगता का अर्थ है – पूर्णता से, अपने समग्र अस्तित्व से, अपने पूरे शरीर व समस्त ज्ञान तन्तुओं से, आँखों और कानों से, अपने समग्र मन व सम्पूर्ण हृदय से सुनना, समझना और देखना।'[1]

विचार शीलता और संवेदन शीलता :

शुद्ध मन की अनुभूति विचार है जबकि शुद्ध हृदय का अनुभव संवेदन है। शुद्ध मन एवं हृदय से किसी चीज को अनुभव करने की क्षमता को विचार शीलता और संवेदन शीलता कहते हैं। इसी से विवेक या प्रज्ञा का जन्म होता है। यदि हम अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि हम बहुत से ऐसे कार्य करते हैं, जिसमें विचार एवं संवेदना का अभाव होता है। कुछ कार्य तो ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम धार्मिक कृत्य समझकर किए चले जाते हैं। उदाहरण के लिए सजीव पुष्पों को निर्जीव मूर्तियों पर डालना, पूजा एवं हवन के नाम पर बहुमूल्य जीवनो-

---

1. परिसंवाद, अंक 2, पृ० 27–28.

1. गरुड़ की उड़ान, पृ० 35.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पयोगी वस्तुतों की क्रूरतापूर्ण बरबादी, बलि के नाम पर पशुओं की निर्मम हत्या, इत्यादि। इसके अतिरिक्त मार्ग पर चलते हुए फूलों, उनकी पंखुरियों, डंठलों, कँटीली झाड़ियों को तोड़कर इधर-उधर मार्ग पर ही फेंकते रहना, यह सब हमारी विचार हीनता एवं असंवेदन-शीलता का परिचायक है। इस प्रकार के कृत्यों में बच्चों से लेकर बूढ़ों तक को लिप्त हुआ देखा जा सकता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'यदि आप सचमुच आदर महसूस करते, तब आप फूलों का विनाश नहीं करते, आप सड़क से पत्थर को हटा देते, वृक्षों की रक्षा करते और बगीचे की परवरिश करने में सहायता करते। लेकिन चाहे हम प्रौढ़ हों या युवा, हममें विचार शीलता की भावना ही नहीं है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि हम नहीं जानते कि प्रेम क्या है।'[1]

ध्यान के माध्यम से ही हमारे हृदय में संवेदन शीलता एवं मन में विचार-शीलता की भावना का उदय होता है, जिसमें हम वृक्षों, पशुओं तथा अस्तित्व के किसी भी चीज को हानि नहीं पहुँचाते वरन् 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना से भरे होते हैं। विचार-शीलता के अभाव में व्यक्ति मृतक समान होता है। संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में ही प्रेम तथा प्रज्ञा का उदय होता है। ऐसा व्यक्ति सदा आनन्दित रहता है तथा न तो प्रार्थना करता है न ही ईश्वर की खोज करता है, क्योंकि उसका वह आनन्द ही स्वयं ईश्वर होता है। संवेदनशील व्यक्ति के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'संवेदनशील होने का अर्थ है, व्यक्तियों, पक्षियों, फूलों, वृक्षों के लिए करुणा महसूस करना – इसलिए नहीं कि वे आपके हैं, परन्तु इसलिए कि आप वस्तुओं के अद्भुत सौन्दर्य के प्रति जागरूक हैं।'[2]

वास्तविक ध्यान :

साधारण तथा जिस ध्यान की साधना की जाती है और जिसमें मन लीन होता है, वह ध्यान मन को किसी चीज के प्रति संकुचित करता

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 176.
2. वही, पृ० 177.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो एक प्रकार से निषेध की ही क्रिया है। ध्यान की क्रिया में मन को एक विशेष वस्तु या विचार की ओर केन्द्रित करते हैं और किन्हीं कारणों से मन दूसरी ओर हट जाता है तो इस क्रिया को विचलन कहते हैं। विचलन का स्मरण होते ही मन की गति को अन्यत्र जाने से रोकना प्रतिकार कहलाता है। इस प्रकार ध्यान एवं प्रतिकार में हमारी ऊर्जा व्यय होती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जब आप किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रित होना चाहते हैं और आप का मन भटकता है तो उस समय आप के मन का एक भाग विचलन का प्रतिकार करता है जिसमें शक्ति का अपव्यय होता है। इसके विपरीत यदि आप मन की प्रत्येक हरकत के प्रति हर क्षण सावधान रहें तब मन के विचलन एवं उसके प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं उठता और ऐसी अवस्था में ऊर्जा का अपव्यय नहीं होता। उदाहरण के लिए—

'यदि आप घण्टी की आवाज उसकी चोटों के बीच की स्तब्धता, दोनों को ही सुनें तो यह सम्पूर्ण सुनना ही ध्यान देना होगा। इसी तरह जब कोई व्यक्ति बोल रहा हो तब उसकी ओर ध्यान देने का अर्थ केवल उसके शब्दों को सुनना ही नहीं है, अपितु उन शब्दों के बीच की शान्ति को भी सुनना होगा। यदि आप इसका परीक्षण करें तो आपको ज्ञात होगा कि आपका मन तब बिना विचलन और बिना प्रतिकार के पूरा ध्यान दे पा रहा है।'[1]

जिस प्रकार दो वस्तुओं के बीच रिक्त स्थान या अवकाश होता है, उसी प्रकार विचार अवलोकन की क्रिया में दो विचारों के बीच अवकाश या स्तब्धता होती है। जब मन इस स्तब्धता से एकाकार हो जाता है, जो अनन्त है तो स्तब्धता की इसी अवस्था को ध्यान कहते हैं।

चुनाव रहित सजगता एवं सौन्दर्य :

मनुष्य साधारणतया अपनी सम्पूर्ण जीवन ऊर्जा को परीक्षाएँ पास करने, धन कमाने, महत्वपूर्ण पदों पर पहुँचने आदि में ही व्यय कर देता है, वह कभी भी ध्यान की गहराइयों में जाने का प्रयत्न ही नहीं

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 140.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता, कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि यदि कोई व्यक्ति ध्यान नहीं जानता तो वह परिपक्व व्यक्ति नहीं है क्योंकि ध्यान जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। जब हमारा चेतन मन समस्त क्रिया-कलापों के प्रति सजग एवं होश पूर्ण होता है तथा उसमें किसी विचार एवं भावना के प्रति लगाव या दुराव नहीं होता है तो ऐसी अवस्था को चुनाव रहित सजगता कहते हैं। चुनाव रहित सजगता से जब मन पूर्णतः स्तब्ध हो जाता है तो अपने चारों ओर का बाह्य एवं आन्तरिक वातावरण एक विचित्र सौन्दर्य से भर जाता है। सौन्दर्य की अनुभूति में 'स्व' नहीं होता, अर्थात् जब 'स्व' नहीं होता तो सौन्दर्य होता है। जहाँ हम अपनी समस्त जिम्मेदारियों, परम्पराओं तथा इसी प्रकार के कूड़े-कचरे के साथ नहीं होते, वहीं सौन्दर्य है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है--

'सौन्दर्य को समझना यानी हृदय में करुणा की अनुभूति होना, जिसका आगमन तब होता है जब हमारा मन व हमारा हृदय किसी सुन्दर वस्तु के प्रति बिना किसी रुकावट के पूर्णतया संवादित होता है ताकि हम निश्चित रूप से अखण्ड आनन्द महसूस कर सकें। जीवन में ऐसा आनन्द बड़ा ही महत्वपूर्ण है, और जब तक सौन्दर्य के प्रति हमारे हृदय में इस प्रकार की अनुभूति नहीं होती तब तक हमारा जीवन अत्यन्त छिछला बना रहेगा। भले ही कोई व्यक्ति किसी महान् सौन्दर्य से सर्वदा घिरा रहे, चाहे उसके चारों ओर पर्वतों की शृङ्खला हो, चारों ओर खेत हों, सरिताएँ हों, लेकिन जब तक इन सबके प्रति सजग नहीं है तब तक यह सब उसके लिए निर्जीव हैं।'[1]

प्रार्थना और प्रेम :

कुछ लोगों के लिए प्रार्थना ईश्वर या सत्य को पाने का मार्ग भले ही हो, परन्तु प्रार्थना से सत्य या ईश्वर तक नहीं पहुँचा जा सकता। प्रार्थना एक प्रकार की याचना है, इसमें हमारी माँगे निहित हैं। हमारे 'स्व' के कारण उठने वाली माँग से जो कुछ प्राप्त होगा वह

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 157.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि ससीम 'स्व' असीम 'सत्य' को कैसे जान सकता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

'एक ऐसा मन जो भ्रान्त है, अज्ञानी है, लोलुप है, लालची है, याचक है, वह कैसे यथार्थ को समझ सकता है? मन केवल तभी यथार्थ को ग्रहण करता है जब वह पूर्णतया शान्त होता है। जब वह कुछ माँग नहीं करता, कुछ लालसा नहीं करता, कुछ नहीं चाहता, चाहे वह अपने लिए हो अथवा राष्ट्र के लिए हो, अथवा किसी दूसरे के लिए। जब मन पूर्णतया शान्त होता है, जब आकांक्षा का लोप हो जाता है, केवल तभी यथार्थ अभिव्यक्त होता है।'[1]

हमारे लिए प्रेम शब्द बड़ा ही दूषित हो गया है, क्योंकि यह शब्द हमारी वासनाओं, आकांक्षाओं, काम-वृत्तियों के बोझ से लदा है। कृष्णमूर्ति जी जब प्रेम शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ ही कुछ और होता है। वे कहते हैं कि प्रेम एक विलक्षण वस्तु है, जब तक विचार एवं वासना से वह पिरोया गया है तब तक वह प्रेम है ही नहीं। जब हम प्रिय के बारे में सोचते हैं तब वह व्यक्ति सुखद संवेदनाओं, स्मृतियों और प्रतिमाओं का प्रतीक बन जाता है, लेकिन यह प्रेम बिल्कुल नहीं है। विचार, संवेदन है और संवेदन प्रेम नहीं है क्योंकि विचार की प्रक्रिया ही प्रेम का नकार है। वास्तविक प्रेम एक ऐसी लौ और लपट है, जिसमें विचार, ईर्ष्या, द्वेष और उपयोग की मंशा का धुआँ नहीं होता, क्योंकि ये सभी चीजें मन की ही हैं। कुछ प्रश्नों के उत्तर विधायक रूप में न समझकर निषेधात्मक रूप में ही समझे जा सकते हैं। सत्य ईश्वर तथा प्रेम को निषेधात्मक रूप में ही समझाते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

---

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 197,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जो प्रेम नहीं है उसके निषेध द्वारा जो प्रेम है वह प्रकट होता है। मुझे पूछना नहीं रह जाता कि प्रेम क्या है, मुझे उसके पीछे भागना भी नहीं होता। यदि मैं उसके पीछे भागता हूँ तो वह प्रेम नही है, यह तो पुरस्कार है। अतः मैंने निषेध का आश्रय लिया है। मैं अपने अन्वेषण में शनैः शनैः सावधानी पूर्वक विकृति रहित भ्रान्ति रहित समाप्ति पर पहुँच गया हूँ, जहाँ यह नहीं है, वहाँ वह (प्रेम) है।'[1]

1. प्रेम, जे० कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया – वाराणसी, पृ० 12,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय

कृष्णमूर्ति दर्शन में अन्य विचार

ईश्वर सम्बन्धी विचार :

सभी दर्शनों में (भारतीय एवं पाश्चात्य) किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है। जिन दर्शनों में ईश्वर का निषेध किया गया है, उन दर्शनों में भी सत्ता का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सृष्टिवादी दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कारण बताते हुए उसे सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकारा गया है। भाग्यवादी दर्शन तो ऐसा मानता है कि ईश्वर की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। वही सबके सुख एवं दुःख का दाता है, और दूर कहीं सातवें आसमान में बैठकर सबके भाग्य का फैसला करता है तथा कर्मों के अनुसार उसको फल देता है। कृष्णमूर्ति जी ईश्वर का निषेध तो नहीं करते परन्तु ऐसा मानते हैं कि उस अनुभूति को विचारों द्वारा संप्रेषित नहीं किया जा सकता। आपका कहना है—

मैं ईश्वर का निषेध नहीं कर रहा – ऐसा करना मूर्खता होगी। केवल वही व्यक्ति जो यथार्थ को नहीं जानता, निरर्थक शब्दों में लिप्त होता है। वह व्यक्ति जो कहता है कि वह जानता है, नहीं जानता और उस व्यक्ति के पास जो यथार्थ का क्षण-क्षण में अनुभव कर रहा है, यथार्थ के विषय में विचार-संप्रेषण का कोई साधन नहीं है।'[1]

कृष्णमूर्ति जी ईश्वर शब्द पर कोई बल नहीं देते। उनका कहना है कि न तो ईश्वर शब्द ही ईश्वर है न मन्दिरों आदि में रक्खी ईश्वर की प्रतिमा ही ईश्वर है। शब्द और प्रतीक वास्तविकता से बिल्कुल भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए किसी राष्ट्र का ध्वज राष्ट्र नहीं होता, न किसी सम्प्रदाय का प्रतीक वह सम्प्रदाय ही होता है। इसी

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 185,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार ईश्वर शब्द ईश्वर नहीं है, शब्द वस्तु नहीं है। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सत्य या ईश्वर असीम और कालातीत है, उसे मन्दिरों में बन्द नहीं किया जा सकता। जो ईश्वर मन्दिरों में बन्द है, वह तो हमारे भय के कारण मन की उपज है, जिसे प्रतिमाओं के रूप में महिमा मण्डित किया गया है। वास्तविक सत्य तो सर्वत्र विद्यमान है। आपका कहना है—

'सत्य तो एक सूखी पत्ती के नीचे, रास्ते के किनारे पड़े एक पत्थर में मिल सकता है। यह उस पानी में, जो सन्ध्या के सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करता है, बादलों में भारी बोझा ढोती हुई स्त्री के मुस्कान में उपलब्ध हो सकता है। यह जरूरी नहीं कि मन्दिर में ही सत्य हो। सत्य तो समस्त विश्व में बिखरा पड़ा है और साधारणतया मन्दिर में सत्य होता भी नहीं, क्योंकि उसका निर्माण मनुष्य के भय के कारण हुआ है। ईसाइयों के गिरजा घर, मुसलमानों की मसजिदें, आपका हिन्दू मन्दिर ये सब मनुष्यों को बाँटते हैं।''[1]

कृष्णमूर्ति जी के ईश्वर की अवधारणा अन्य दार्शनिकों की अवधारणा से भिन्न है। उनका मानना है कि सत्य असीम, अवर्णनीय तथा सदा वर्तमान है। जिस प्रकार हम वायु को मुट्ठी में नहीं पकड़ सकते, उसी प्रकार (''सत्य'') शब्दों की सीमाओं से परे है। ईश्वर कभी भी दृश्य नहीं बन सकता, वह तो परम मौन की अवस्था में स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। आपका कहना है—

''यदि मन यह सब भली-भाँति समझ लेता है तो सम्भवतः वह जिसे आप ''सत्य कह लें अथवा ईश्वर या अनन्त या असीम या ''समयातीत कह लें, जिसकी मनुष्य सदियों से खोज कर रहा है, बिना आमंत्रण के ही उपस्थित हो जाता है, जो वस्तुतः पहले से ही था।''[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 73,
2. गरुड़ की उड़ान, पृ० 37

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता :

स्वतंत्रता का शाब्दिक अर्थ होता है, अपने तन्त्र में जीना या अपनी व्यवस्था के अनुसार जीना। स्वतंत्रता में किसी प्रकार का न तो भय होता, न ही किसी प्रकार का बन्धन ही होता है। स्वतंत्रता के दो रूप माने जा सकते हैं। बाह्य स्वतंत्रता एवं आन्तरिक स्वतंत्रता। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक स्वतंत्रता बाह्य स्वतंत्रता के रूप हैं जबकि धार्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा वैचारिक स्वतंत्रता आन्तरिक स्वतंत्रता मानी जाती है। जब हम बाह्य एवं आभ्यन्तर किसी भी रूप में किसी अन्य पर आश्रित नहीं होते और अपनी इच्छानुसार सोचते-विचारते तथा कार्य करते हैं तो इस अवस्था को स्वतंत्रता कहते हैं। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि यह सब होते हुए भी हम स्वतन्त्र कहाँ हैं। हमने स्वतंत्रता का गलत अर्थ लिया है। स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि आप अपनी इच्छानुसार जो चाहें वही करें, भले ही आपके इस कृत्य द्वारा किसी को लाभ हो या हानि। वास्तव में स्वतंत्रता की अवस्था आत्मानुशासन की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की भावना विद्यमान होती है। वही व्यक्ति वास्तव में स्वतंत्रता का अनुभव कर सकता है, जो संवेदनशील, मेधावी और अवबोध की क्षमता रखता हो। जो व्यक्ति आत्मज्ञानी है तथा जिसकी प्रत्येक क्रिया एवं विचारणा आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोकित है, वही स्वतंत्रता के अर्थ को ठीक-ठीक समझ सकता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

"स्वतंत्रता के लिए बहुत ऊँची मेधा की आवश्यकता होती है। स्वतन्त्र होने का अर्थ है मेधावी होना, पर यह सुबोधता केवल इच्छा मात्र से नहीं आ जाती। इसका आगमन तो तब होता है, जब आप अपने सम्पूर्ण वातावरण को, चिरसंचित सामाजिक, धार्मिक, पैत्रिक और परम्परागत संस्कारों को पूर्णतया समझ लेते हैं। इन्हें समझने एवं इनसे मुक्त होने के लिए एक गहरी अंतर्दृष्टि की आवश्यकता होती है, जिसका हृदय सरस और इसलिए जो "कुछ और बनने" की इच्छा से प्रभावित नहीं होता, वही स्वतन्त्र है।"[1]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 9 एवं 10,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामवृत्ति, ब्रह्मचर्य एवं सर्जनशीलता :

काम-वासना एक महत्वपूर्ण मानवीय समस्या है। वर्तमान युग में किशोर, युवा एवं वृद्ध सभी समान रूप में इसके शिकार हो चुके हैं। यद्यपि काम-वासना एक ऐसी शारीरिक एवं मनो-वैज्ञानिक आवश्यकता है कि उससे पलायन करना सम्भव नहीं है, फिर भी इसके विरोध में हम ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर अपनी इस समस्या को और अधिक जटिल बना देते हैं तथा नाना प्रकार के शारीरिक एवं मनो-वैज्ञानिक रोगों के शिकार हो जाते हैं। दमित काम-वासना जीवन के लिए घातक होती है तथा मनुष्य को सहज जीवन जीने में व्यवधान डालती है। काम-वासना की जटिलता के सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि वास्तव में हम आनन्दित तभी होते हैं, जब हमारे "मैं" अर्थात् अहंकार का विसर्जन हो जाता है। अहंकार शून्य अवस्था का नाम ही आनन्द है। हम जाने-अनजाने इसी अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न अथवा उपक्रम किया करते हैं। इस अहंकार से बचने लिए व्यक्ति नाना प्रकार के रूपों में स्वयं से पलायन करता है। आत्म-विस्मरण की वासना के लिए ही कुछ लोग विभिन्न कलाओं की ओर मुड़ते हैं, तो कुछ लोग रहस्यमय काल्पनिक धार्मिक सिद्धान्तों का भी अनुगमन करते हैं। साधारणतया हमारे सभी कर्म अहंकार में वृद्धि ही करते हैं, फिर भी जाने-अनजाने हम इस "अहंकार" से छुटकारा भी पाना चाहते हैं, क्योंकि वही एक ऐसा क्षण है जब हमें आनन्द की अनुभूति होती है। वैसे तो सभी क्रिया-कलाप हमारी चेतना में द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं और दुःखभोग को जन्म देते हैं। इस प्रकार हम दोहरी जीवन प्रणाली के अनुसार जीवन जीने पर मजबूर हो जाते हैं। अहंकार विसर्जन के लिए हम जो भी कर्म करते हैं, उसमें कामवृत्ति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह एक ऐसी प्राकृतिक क्रिया है, जिसमें क्षण भर के लिए ही सही, हमारे अहंकार का पूर्णरूपेण विसर्जन हो जाता है और हम आनन्द की अनुभूति कर लेते हैं। चूंकि इस क्रिया के लिए हमें दूसरों पर आश्रित होना पड़ता है जिससे चोट खाया हुआ हमारा "अहंकार" काम-वासना की निन्दा करता है और इसके विरुद्ध ब्रह्मचर्य की साधना का व्रत लेता है। चूंकि काम-वासना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ऐसी वासना है जिससे बचना बहुत कठिन है, अतः यह ब्रह्मचर्य के व्रत के कारण अनेक विकृत रूपों में अपने को प्रकट करने लगती है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"जब आपके जीवनमें केवल एक ही चीज ऐसी होती है जो आपके पलायन का तथा स्वयं को पूर्णतः भूल जाने का आखिरी रास्ता है, भले ही वह कुछ सेकेण्डों के लिए ही हो, तो आप उससे चिपके रहते हैं, क्योंकि वही एक मात्र ऐसा क्षण है जब आप सुखी हैं। लेकिन जब आप उससे चिपक जाते हैं तो वह भी दुःस्वप्न बन जाता है, क्योंकि तब आप उससे मुक्त होना चाहते हैं, आप उसका गुलाम होना नहीं चाहते। अतः आप पुनः मन से ही ब्रह्मचर्य और शुद्धता की धारणा का आविष्कार कर लेते हैं और आप ब्रह्मचारी एवं शुद्ध होने की कोशिश करते हैं।"[1]

मानव-मन की संरचना ऐसी होती है कि प्रत्येक क्रिया को समस्या में परिवर्तित कर देता है। काम करना, पैसा कमाना, सोचना-विचारना, अनुभव करना, काम-वासना का सुख लेना अर्थात् जीने का यह सारा उपक्रम हमारे लिए समस्या क्यों बन जाता है ? उसका एक ही कारण है कि हम प्रत्येक समस्या को एक विशेष दृष्टिकोण से सोचते-विचारते हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जिस प्रकार भोजन करना हमारे लिए कोई समस्या नहीं है, उसी प्रकार यौन क्रिया भी हमारे लिए कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार भोजन शरीर की एक आवश्यकता है, उसी प्रकार यौन क्रिया भी हमारे शरीर की एक आवश्यकता है। कोई भी चीज हमारे लिए तब एक समस्या बन कर खड़ी हो जाती है जब हम दिन-रात उसका विचार करने लगते हैं। भोजन हो या काम वासना, जब वह विचार का रूप ले लेती है तो वह हमारे लिए एक समस्या बन जाती है।

"अन्ततः क्रिया समस्या नहीं है, बल्कि मन ही समस्या है—वह मन जो कहता है कि मुझे ब्रह्मचारी होना चाहिए। ब्रह्मचर्य मन की वस्तु नहीं है। मन अपने क्रिया कलापों का दमन कर सकता है और

1. परिसंवाद–10, पृ० 25,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दमन ब्रह्मचर्य नहीं है। आप चाहकर ब्रह्मचारी नहीं बन सकते। ब्रह्मचर्य को आप तभी जान पाएंगे, जब प्रेम होगा-और प्रेम मन की वस्तु नहीं है।"[1]

प्रश्न यह है कि जब काम-वासना हमारी समस्या बन चुकी है तो हम उससे कैसे मुक्त हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि चूँकि काम-वासना की क्रिया नहीं अपितु काम-वासना का विचार हमारी समस्या का कारण है, अतः इस समस्या का अन्त तभी होगा जब विचारकर्त्ता समाप्त हो जाय। विचारकर्त्ता की समाप्ति के लिए विचार की सारी प्रक्रिया की समझ होनी चाहिए। जब सरलता एवं चुनाव रहित सजगता होती है तो तथ्य में जो चीजें अन्तर्निहित होती हैं वह अपने आप को प्रकट करने लगती हैं। अतः तथ्य के रूप में विचार का अन्त हो जाता है और विचार का अन्त विचारकर्त्ता का अन्त है, क्योंकि विचारक ही विचार है। स्पष्ट है कि वास्तविक ब्रह्मचर्य मन के दमन का परिणाम नहीं है अपितु विचार-कर्त्ता के समाप्ति का परिणाम है। ऐसा ब्रह्मचर्य ही सर्जनशीलता को जन्म देता है जो मानव-जीवन को सुखी एवं आनन्दित करता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"परन्तु जब मन अपनी पूरी प्रक्रिया को समझ लेता है और इसलिए समाप्त हो जाता है, अर्थात् जब विचार प्रक्रिया का अन्त हो जाता है, तब सर्जनशीलता जन्म लेती है, और वही सर्जनशीलता हमें सुखी बनाती है। सर्जनशीलता की उस अवस्था में होना ही आनन्द है, क्योंकि वह ऐसा आत्म-विस्मरण है जिसमें "मैं" से निकलने वाली प्रतिक्रिया नहीं होती है। काम-वासना की दैनिक समस्या का यह कोई गूढ़ समाधान नहीं है—यही एक मात्र समाधान है। मन ही प्रेम का निषेध करता है और प्रेम के बिना ब्रह्मचर्य नहीं होता, और चूँकि प्रेम नहीं है, इसलिए आप काम-वासना को एक समस्या बना लेते हैं।"[2]

धर्म, धार्मिकता एवं धार्मिक जीवन :

साधारणतया बाह्य शुद्धि करने, मन्दिर, मसजिद या गुरुद्वारों में

1. परिसंवाद- 10, पृ० 26,
2. परिसंवाद-10, पृ० 27.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने, कुछ पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करने, गीता, कुरान या बाइबिल का पाठ करने, किसी आसन विशेष में बैठना, माला फेरना, तथा-कथित तीर्थ स्थलों की यात्रा करना, पवित्र नदियों में स्नान करना, पत्थर या धातु की बनी मूर्तियों की पूजा-अर्चना करना या कुछ ऐसे ही कृत्यों को धर्म समझा जाता है। परन्तु कृष्णमूर्ति जी इन क्रिया-काण्डों को धर्म नहीं मानते हैं। उनका कहना है :—

"क्रिया-काण्ड धर्म नहीं है। मन्दिर में जाने में और विश्वास रखने में भी धर्म नहीं है। श्रद्धा मनुष्यों को बाँटती है। अतः श्रद्धा विनाश, दुश्मनी और विभाजन को जन्म देती है। यह निश्चित ही धर्म नहीं है।"[1]

प्रश्न यह है कि तब फिर वास्तविक धर्म क्या है ? इसके उत्तर में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जिस प्रकार स्वच्छ एवं अविकृत खिड़की के शीशे से देखने पर वस्तुएँ अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई देती हैं, उसी प्रकार जब आप अपने मन की खिड़की को पूरी तरह स्वच्छ अर्थात विचारों, विश्वासों, परंपराओं तथा प्रति-बद्धताओं की विकृतियों से मुक्त कर लेते हैं, तब ही हम वास्तविक धर्म को समझ सकते हैं। आपका कहना है :—

"जब आपके मन से इन समस्त प्रतिमाओं, क्रियाओं, प्रतीकों, शब्दों, मंत्रों, उच्चारणों और भयों की धूल एकदम स्वच्छ कर दी जाती है तब आप जो कुछ भी देखेंगे, वह सत्य होगा, समयातीत होगा, चिरन्तन होगा, जिसे आप भले ही परमात्मा कह लें, लेकिन इसके लिए गहरी अन्तर्दृष्टि, बोध-क्षमता और प्रतीक्षा की आवश्यकता होती है। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए संभव है जो सचमुच यह खोज करते हैं कि धर्म क्या है और इस खोज को अन्त तक चालू रखते हैं। केवल वे ही पुरुष यह जान पाते हैं कि धर्म क्या है ? अन्य सभी व्यक्ति केवल शब्दों के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं।"[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 30,
2. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 31,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिकता मन की एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति सदा ही वास्तविक धर्म के प्रति जिज्ञासु होता है। ऐसा मन जिसमें किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है, धार्मिक मन कहलाता है। धार्मिकता की अवस्था में सत्य या ईश्वर का साक्षात्-कार होता है। सत्य को आमंत्रित नहीं किया जा सकता, वह तो मन के स्वच्छ दर्पण में स्वयं ही उद्घाटित हो जाता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"मन की वह अवस्था जब वह किसी संघर्ष या प्रयास के काबिल नहीं रह जाता, वही सच्चा धार्मिक मन है; और मन की इसी अवस्था में आपका साक्षात्कार उस चीज से हो जाता है जिसे सत्य, वास्तविकता, परमानन्द, परमात्मा, सौंदर्य, प्रेम इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इस चीज को आप आमंत्रित नहीं कर सकते, इसे आप खोज-ढूंढ़ भी नहीं सकते। क्योंकि मन उसके लिए छोटा पड़ जाता है।"[1]

धार्मिक मनःस्थिति में जीना धार्मिक जीवन कहलाता है। वास्तविक धर्म को समझने से ही धार्मिक मन का सृजन होता है। धार्मिकता की ऐसी स्थिति में जीया गया जीवन ही धार्मिक जीवन होता है और धार्मिक जीवन ही वास्तविक जीवन है। धार्मिक जीवन की व्याख्या करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"सचमुच जीवन का अर्थ है–किसी वस्तु को जिसे आप प्रेम करते हैं, अपनी पूरी समग्रता के साथ करना ताकि आप में "आप जो कर रहे हैं" और "आपको जो करना चाहिए" इनमें किसी प्रकार की विसंगति न हो, संघर्ष न हो। तब हमारे लिए यह जीवन अखण्ड समग्रतामय प्रक्रिया हो जाएगी, जिसमें अनन्त आनन्द है, लेकिन यह तभी हो सकता है जब आप मानसिक दृष्टि से किसी व्यक्ति अथवा समाज पर अवलंबित न हों, जब आपके अन्तर में पूर्ण अनासक्ति हो।

---

1. ज्ञात से मुक्ति, पृ० 135–136,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी अवस्था में आप जो कुछ करेंगे, उसे प्रेम से करेंगे और उसी प्रेम से अलौकिक सृजनशीलता की अनुभूति होती है।"[1]

वर्तमान संकट में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता :

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि वर्तमान में विश्व एक असाधारण एवं अभूतपूर्व संकट की घड़ी से गुजर रहा है। इतिहास के अनेक युगों में मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं राजनैतिक संकट का का सामना किया है। परंतु वास्तविक वर्तमान संकट इसलिए अभूतपूर्व है कि अब हमारा संबंध अर्थ एवं मूर्त वस्तु से न होकर विचारों से हो गया है। आज हम किसी चीज के औचित्य का समर्थन विचारों के माध्यम से करने लगे हैं। उदाहरण के लिए पहले हम व्यक्ति या समूह की हत्या करना पाप समझते थे, परन्तु अब विचारों, धारणाओं, सिद्धान्तों के माध्यम से हत्या के औचित्य का समर्थन करते हुए उसे महिमा-मण्डित करने का प्रयास कर रहे हैं। आज हम वर्तमान को भविष्य की वेदी पर बलिदान करने को तैयार हैं। सशक्त प्रचार माध्यमों के जरिये बुराई के औचित्य-समर्थन के लिए हमारे पास विचारों की शानदार प्रणालियाँ हैं जो निश्चित ही इस संकट को अभूतपूर्व बना रही हैं। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"बुराई बुराई है, वह अच्छाई नहीं उत्पन्न कर सकती। युद्ध शांति का साधन नहीं हो सकता, और युद्ध को ही शांति लाने के साधन के रूप में बौद्धिक समर्थन किया जाता है। जब बुद्धि मानव-जीवन में अधिकारपूर्ण स्थान ले लेती है तो अभूतपूर्व संकट उत्पन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त दूसरे कारण भी हैं जो अभूतपूर्व संकट के सूचक हैं। इनमें से एक मनुष्य के द्वारा ऐन्द्रिक मूल्यों को, सम्पत्ति को, यश को, जाति और देश को, उस विशेष लेबिल को जो व्यक्ति अपने ऊपर लगाये रहता है, असाधारण महत्त्व देना है।"[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 61,
2. प्रथम और अंतिम मुक्ति, पृ० 127.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है कि वर्तमान में मनुष्य एवं उसका जीवन महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है, महत्त्वपूर्ण रह गई हैं विचार-प्रणालियाँ, वाद एवं ऐन्द्रिक मूल्यों का समर्थन। नाभिकीय अस्त्रों ने भी इस प्रकार के अपवित्र विचार रखने वाले लोगों के हाथ मजबूत ही किये हैं यही सब कारण है जिनसे विनाश की विभीषिका मुंह बाये खड़ी है और संकट को अभूतपूर्व बना रही हैं। मनुष्य का सत्य सर्वोपरि है, इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए आपका कहना है कि सारे सिद्धान्त एवं विचार मनुष्य को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से बनाए गए हैं, परन्तु यह कितना हास्यास्पद लगता है कि सिद्धान्तों एवं विचारों की रक्षा के लिए मनुष्य को वेदी पर चढ़ाया जाता है। वर्तमान संकट की इस घड़ी में मानवता की रक्षा मौलिक परिवर्तन से ही हो सकती है। मौलिक परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"जो मिथ्या है उसमें सत्य क्या है, उसे हम देखें और इसी प्रकार जिसे अब तक सत्य स्वीकार किया गया है उसमें जो मिथ्या है उसको हम देखें। मिथ्या को मिथ्या के रूप में देखना और सत्य को सत्य के रूप में देखना ही मौलिक परिवर्तन है क्योंकि जब आप किसी वस्तु को बड़ी स्पष्टता से सत्य के रूप में देख लेते हैं, तो वह सत्य आपको मुक्ति प्रदान करता है। जब आप देख लेते हैं कि कोई वस्तु मिथ्या है, तो वह मिथ्या वस्तु समाप्त हो जाती है।"[1]

नूतन संस्कृति :

अनुमान किया जाता है कि आज की संस्कृति, मनुष्य के लाखों वर्षों के विकास का परिणाम है। पिछली कुछ शताब्दियों में विकास की प्रक्रिया बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ी है। आर्थिक, सामाजिक एवं मनो-वैज्ञानिक क्षेत्रों में मनुष्य ने बड़ी प्रगति की है। फिर भी विश्व के प्रत्येक भाग में आज भी बहुत से लोगों को भोजन, कपड़ा एवं मकान की समस्या बनी हुई है। हमारी बुनियादी समस्याओं के हल के लिए

---

1. प्रथम और अन्तिम मुक्ति, पृ० 237,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि विश्व में अनेक क्रान्तियाँ एवं सुधार हुए परन्तु फिर भी बुनियादी समस्या जहाँ की तहाँ बनी हुई है। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि विश्व में एक ऐसी क्रान्ति की आवश्यकता है जो नूतन संस्कृति का निर्माण कर सके। ऐसी संस्कृति जो न पूर्व की हो न पश्चिम की अपितु वह मानव संस्कृति हो। ऐसी संस्कृति का निर्माण वास्तविक धार्मिक कांति के द्वारा ही संभव है। जब प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में धार्मिक होगा, तो उससे निर्मित समाज में नूतन संस्कृति की स्थापना की जा सकती है। इसके लिए आपका कहना है कि :—

"सत्य का अन्वेषक ही एक मात्र धार्मिक व्यक्ति है। ऐसा मानव अपने प्रेम के कारण समाज से पृथक् है और उसका कार्य उस व्यक्ति के कार्य से सर्वथा भिन्न है, जो समाज के अन्दर रहकर सुधार कर रहा है। एक सुधारक कभी भी नूतन संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकता। अतः उस खोज की–सही धार्मिक व्यक्ति की खोज की आवश्यकता है, क्योंकि यही वह खोज है, जो नूतन संस्कृति का निर्माण करती है और इसी खोज में हमारी आशा निहित है।"[1]

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 223,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

शिक्षा और दर्शन

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ :

"शिक्षा" शब्द संस्कृत के "शिक्ष" धातु से बना है, जिसका अर्थ है सीखना या ज्ञान प्राप्त करना। शिक्षा को विद्या भी कहा जाता है जो "विद्" धातु से बना है, जिसका अर्थ है जानना या ज्ञान प्राप्त करना। शिक्षा अंग्रेजी शब्द "एडुकेशन" का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द "एडुकेटम" से हुई है। इसमें "इ" का अर्थ है "अन्दर से" और "डुको" का अर्थ है "आगे बढ़ाना" या बाहर करना। अतः शिक्षा (एडुकेशन) का अर्थ है अन्दर छिपे हुए गुह्य आयामों को बाहर करना या अभिव्यक्त करना। जिस प्रकार बीज में छिपे हुए वृक्ष मिट्टी, जल, वायु एवं सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में पल्लवित एवं पुष्पित होता है, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षा बालक में छिपी हुई संभावनाओं को प्रस्फुटित होने में सहायता करती है।

शिक्षा का व्यापक अर्थ :

शिक्षा एक ऐसी अनवरत प्रक्रिया है जो व्यक्ति के गर्भाधान संस्कार से आरम्भ होकर जीवन के अन्त तक चलती रहती है। मनुष्य प्रत्येक क्षण अपने तथा दूसरे के अनुभवों से सदा कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। प्रातःकालीन बहने वाली शीतल बयार का स्पर्श, वृक्षों से होकर जानेवाली हवा की सरसराहट सूर्योदय एवं सूर्यास्त की लालिमा, पक्षियों की चहचहाहट, कलियों का प्रस्फुटन, सरिता का अनवरत प्रवाह, बच्चों की किलकारियाँ, रात्रि का तारों से भरा आकाश, पत्तों का पीत रंग होकर टहनियों से अलग होना, प्रातः का डूबता हुआ अंतिम तारा, मरघट की यात्रा एवं चिता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धधकती ज्वाला, महासमुद्रों का शान्त एवं प्रलयंकारी स्वरूपों के साथ-साथ अस्तित्व में घटनेवाली हर छोटी-बड़ी घटनाएँ हमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देती ही रहती हैं। शिक्षा के व्यापक अर्थों को विभिन्न शिक्षाविदों ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि शिक्षा का किसी विचार या सिद्धान्त से कोई लगाव नहीं होता, न ही वह मन को किसी विशेष प्रकार से प्रतिबद्ध करने का साधन ही है। शिक्षा का सही अर्थ व्यक्ति को परिपक्व तथा मुक्त होने में, प्रेम तथा अच्छाई में अधिकाधिक पुष्पित होने में सहायता करना है। इसी में हमारी रुचि होनी चाहिए, न कि बालक को किन्हीं आदर्शवादी नमूने के एक नियत साँचे में ढालने में।

शिक्षा के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करते हुए, ओशो रजनीश का कहना है शिक्षा मानवात्मा में जो कुछ अन्तर्निहित है उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम और उपाय है। सम्यक् शिक्षा वह है जो उसे प्रभु होने की ओर मार्गदर्शन दे सके। शिक्षा तब सप्राण होगी, जब वह मात्र आजीविका को ही नहीं, जीवन जीना भी सिखाएगी। मैं सब कुछ जान लूँ, लेकिन स्वयं की ही सत्ता से अपरिचित रह जाऊँ तो वह जानना वस्तुतः जानना नहीं है। ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य जिसके केन्द्र पर "स्वज्ञान" न हो ? यदि स्वयं के भीतर अँधेरा हो तो सारे जगत में भरे प्रकाश का हमारे लिए क्या उपयोग है ? ज्ञान का प्रथम चरण "स्व ज्ञान" से ही उठना चाहिए, क्योंकि ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य वही है।

महात्मा सुकरात का कहना है कि शिक्षा का अर्थ संसार के सर्व-मान्य विचारों को प्रकाश में लाना जो व्यक्ति के मस्तिष्क में स्वभावतः निहित होते हैं। अतः सुकरात मनुष्य के अन्दर जो अप्रकट है, उसे प्रकट करके प्रकाश में लाने की प्रक्रिया को शिक्षा मानते हैं। एक ओर जहाँ रूसो का मानना है कि "जीवन ही शिक्षा है" वहीं हरबर्ट अच्छे नैतिक चरित्र के विकास को ही शिक्षा मानते हैं। महात्मा गांधी का कहना है कि "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक तथा मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में अन्तर्निहित सर्वोत्तम अंश का संपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकटीकरण है।" एक ओर जहाँ प्लेटो शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास की प्रक्रिया को शिक्षा मानते हैं, वहीं उनके अनुयायी अरस्तू का कहना है कि "शिक्षा का अर्थ स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण करना है।" जॉन लाक कहते हैं "पौधे कृषि द्वारा विकसित होते हैं और मनुष्य शिक्षा से।" एक ओर जहाँ संत आगस्तीन प्रेम की शिक्षा को ही वास्तविक शिक्षा मानते हैं, वहीं फ्रोबेल बालक के आन्तरिक गुणों तथा शक्तियों को प्रकाशित करने की प्रक्रिया को शिक्षा मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द का कहना है, "शिक्षा मनुष्य के अन्तर में निहित दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति है।"

शिक्षा एवं दर्शन में सम्बन्ध :

शिक्षा एवं दर्शन के बीच बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। जिस प्रकार किसी गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए नेत्र एवं पाद दोनों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शिक्षा एवं दर्शन दोनों ही एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। जहाँ एक ओर दर्शन जीवन के लक्ष्य की ओर इंगित करता है, वहीं शिक्षा उस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन है। जहाँ दर्शन साध्य को निर्धारित करता है, वहीं शिक्षा उस साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन की भाँति प्रयुक्त की जाती है। जिस प्रकार साधन एवं साध्य अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार शिक्षा एवं दर्शन भी एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। दर्शन के बिना शिक्षा अंधी है और शिक्षा के बिना दर्शन लँगड़ा है। दर्शन के बिना लक्ष्य निर्धारण नहीं हो सकता और शिक्षा के बिना लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पहलू है, अर्थात् जीवन के लक्ष्यों एवं आदर्शों को प्राप्त करने का जीवन्त साधन है। शिक्षा, दर्शन के बिना न तो स्पष्टता को ही प्राप्त कर सकती है, न ही दर्शन शिक्षा के बिना पूर्णता को ही प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में यदि दर्शन बीज है तो शिक्षा उस बीज को पूर्ण वृक्ष बनने का साधन है। स्पष्ट है कि शिक्षा एवं दर्शन एक ही सिक्के के दोनों पहलुओं की भाँति एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

वर्तमान शिक्षा के दोष :

वर्तमान युग सारी दुनिया में शिक्षा के लिए समर्पित दिखाई पड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है। विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि के कारण विद्यालयों, महा-विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। नयी-नयी खोजो एवं नवीन विचारों को प्रकाशित करने के लिए लगभग पाँच हजार ग्रन्थ प्रति सप्ताह की दर से छापे जा रहे हैं। जिस दुनियाँ में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में इस तरह वृद्धि हो रही हो उस शिक्षा का परिणाम यह है कि यहाँ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हो रही है। छोटे-मोटे युद्धों के साथ-साथ बड़े-बड़े युद्धों की तैयारी भी जोरों पर है। देश, राष्ट्र, धर्म, भाषा, जाति तथा साम्यवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के रक्त का प्यासा बन गया है। जनसंख्या वृद्धि एवं पर्यावरण की समस्या मानव जीवन को और अधिक कठिन बनाती जा रही हैं। इस सबका कारण हमारी दोष पूर्ण वर्तमान शिक्षा है। पिछले लगभग पाँच हजार वर्षो में विश्व में अनेक प्रकार की क्रान्तियाँ हुई हैं। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्तियों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य का शत्रु बनाता जा रहा है। शिक्षा में कोई मौलिक परिवर्तन न होकर उसके सुधार के नाम पर अनेक परिवर्तन किए गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि किए गए सुधारों को पुनः-पुनः सुधारने की आवश्यकता पड़ती जा रही है। जब तक शिक्षा में कोई आमूल परिवर्तन नहीं होता, तब तक नूतन समाज की रचना संभव नहीं है।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि विश्व की सारी समस्याओं की जड़ हमारी दोषपूर्ण वर्तमान शिक्षा है। उनका कहना है कि वर्तमान शिक्षा व्यक्ति को महत्वाकांक्षी बनाती है जिससे उसके अन्दर प्रति-योगिता की भावना पैदा होती है। यह प्रतियोगिता समाज के कमजोर वर्गों का शोषण करती है और नाना प्रकार की बुराइयों को जन्म देती है। जब तक हम इस प्रकार के संस्कारों से संस्कारित करने वाली शिक्षा से मुक्त नहीं हो जाते तब तक हम नूतन विश्व तथा नूतन संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकते। नूतन संस्कृति के अभाव में मानव पशु से भी बदतर जीवन जीने पर मजबूर होता जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति जी वर्तमान शिक्षा को वास्तविक शिक्षा नहीं मानते। आपका कहना है :—

दुर्भाग्यवश आज की शिक्षा का उद्देश्य है इस स्वामित्वपूर्ण समाज की मान्यताओं को स्वीकार करने और इसके अनुकूल बनने में आपकी सहायता करना। आपके माता-पिता, आपके शिक्षक और आपकी पुस्तकों का सरोकार सिर्फ इसी बात से है। जहाँ तक आपको समाज की मान्यताएँ मंजूर हैं, जहाँ तक आप महत्वाकांक्षी हैं, अधिकार लोलुप हैं और शक्ति व प्रतिष्ठा की खोज में दूसरों को दूषित और नष्ट किए जा रहे हों, वहाँ तक आप सम्माननीय नागरिक समझे जाते हैं। लेकिन यह शिक्षा नहीं है। यह तो आपको समाज के ढाँचे के अनुकूल गढ़ने की प्रक्रिया मात्र है।"[1]

आज की शिक्षा हमें नाना प्रकार की उपाधियों को प्राप्त करने के लिए ही प्रेरित करती है, जिसका मुख्य उद्देश्य मात्र कुछ व्यवसाय प्राप्त करना, ऊँची नौकरियाँ प्राप्त करना या राजनीति के कुछ दाव-पेंच सीखकर सत्ता हथियाने का प्रयास करना है। उपाधियों, नौकरियों एवं सत्ता हथियाने की होड़ में हम अधिकाधिक हिंसक, ईर्ष्यालु, पदलोलुप तथा क्रूर होते जा रहे हैं। हम जीवन के वास्तविक रहस्यों को समझने का प्रयास नहीं करते, क्योंकि हमारे जीवन की अधिकाधिक ऊर्जा व्यर्थ के संघर्षों में व्यय हो जाती है। पद एवं प्रतिष्ठा की होड़ वाली शिक्षा हमें वास्तविक मनुष्य बनने में अवरोध उत्पन्न करती है तथा हम कुण्ठित, दमित एवं दुःख पूर्ण जीवन जीने के लिए विवश हो जाते हैं। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"निश्चित रूप से शिक्षा व्यर्थ साबित होगी, यदि वह आपको इस विशाल और विस्तीर्ण जीवन को, इसके समस्त रहस्यों को, इसकी अद्भुत रमणीयताओं को, इसके दुःखों और हर्षों को समझने में सहायता न करे।"[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 20–21,
2. वही, पृ० 1,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी वर्तमान शिक्षा भय पर आधारित है। हमें बचपन से ही भय उत्पन्न करने वाली शिक्षा दी जाती है। हमारे जीवन के हर पहलू पर भय की छाया है। यह सब हमारी वर्तमान शिक्षा का ही परिणाम है। एक भयभीत व्यक्ति में प्रज्ञा का अभाव होता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"हममें से अधिकांश व्यक्ति ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों ज्यादा भयभीत होते जाते हैं, हम जीवन से भयभीत रहते हैं, नौकरी के छूटने से, परंपराओं से और इस बात से भयभीत रहते हैं कि पड़ोसी, पत्नी या पति क्या कहेंगे, हम मृत्यु से भयभीत रहते हैं। हममें से अधिकांश व्यक्ति किसी न किसी रूप में भयभीत हैं और जहाँ भय है, वहाँ मेधा नहीं है।"[1]

हमारी वर्तमान शिक्षा हमें अनुकरण या अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है, जिससे हमारी निजता समाप्त हो जाती है और हम किसी की प्रतिलिपि बनने में अपनी संपूर्ण ऊर्जा लगा देते हैं। कृष्ण-मूर्ति जी कहते हैं :—

"हमने जीवन को कितना कुरूप बना दिया है, सचमुच जीवन के इस ऐश्वर्य की, उसकी अनन्त गहराई और उसके अद्भुत सौन्दर्य की धन्यता तो तभी महसूस कर सकेंगे जब आप प्रत्येक वस्तु के खिलाफ विद्रोह करेंगे–संगठित धर्म के खिलाफ, परम्परा के खिलाफ, सड़े हुए समाज के खिलाफ, ताकि आप एक मानव की भाँति अपने लिए सत्य की खोज कर सकें। अनुकरण करना शिक्षा नहीं है। शिक्षा है खोज।"[2]

वर्तमान शिक्षा हमें अधिकाधिक बंधनों में जकड़ती जा रही है, जबकि वास्तविक शिक्षा हमें बंधनों से मुक्त करती है। वर्तमान शिक्षा हमें विभिन्न खंडों में बाँटती जा रही है, देश, राष्ट्र, भाषा, धर्म तथा विभिन्न प्रकार के वादों को उत्पन्न करने वाली शिक्षा हमें अखण्ड मानव बनने में व्यवधान उत्पन्न करती है। समाज के ढाँचे के अनुरूप

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 2–3,
2. वही, पृ० 3,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने वाली शिक्षा हमें व्यक्ति, विचार, राजनेताओं तथा धर्म-गुरुओं की गुलामी करने को प्रेरित करती है जो मनुष्य होने की गरिमा के विरुद्ध है। वर्तमान शिक्षा महत्वाकांक्षा की ओर प्रेरित करती जा रही है, जिसके कारण हमारा पूरा जीवन युद्ध क्षेत्र बनता जा रहा है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"यह उन महत्वाकांक्षी स्त्री-पुरुषों की दुनियाँ है जो प्रतिष्ठा के पीछे दौड़ रहे हैं और उसे पाने के लिए एक दूसरे के साथ संघर्षरत हैं। दूसरी ओर अपने-अपने अनुयायियों के साथ सन्यासी एवं धर्मगुरु हैं जो इस दुनियाँ या दूसरी दुनियाँ में शक्ति एवं प्रतिष्ठा की चाह कर रहे हैं। यह विश्व ही पूरा पागल है, पूर्णतया भ्रान्त है। यहाँ प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी के विरोध में खड़ा है, और किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचने के लिए, प्रतिष्ठा, सम्मान, शक्ति व आराम के लिए निरंतर संघर्ष कर रहा है। यह संपूर्ण विश्व ही परस्पर विरोधी विश्वासों, विभिन्न वर्गों, जातियों, पृथक्-पृथक् राष्ट्रीयताओं और हर प्रकार की मूढ़ता और क्रूरता में छिन्न-भिन्न होता जा रहा है।"[1]

वर्तमान शिक्षा तथ्यों एवं सिद्धान्तों को कण्ठस्थ करने पर ही बल देती है, जबकि यह अवलोकन, निरीक्षण, श्रवण, मनन की क्रियाओं पर अधिक बल नहीं देती। आज की शिक्षा जीवन को खण्डित करके देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है जबकि समग्र अवलोकन ही शिक्षा का मूल है। जब हम जीवन को खंडित करके देखते हैं तो इससे "स्व" एवं "पर" का द्वैत भाव उत्पन्न होता है, जबकि जीवन एक अखण्ड सत्ता है।

वर्तमान शिक्षा में संवेदनशीलता का अभाव होता जा रहा है। इस शिक्षा का स्वरूप ही कुछ ऐसा है जिससे हमारे मन में कठोरता, उदासीनता, क्रूरता एवं पाशविकता सहज ही बढ़ती जा रही है। वर्तमान शिक्षा हमारे मन को अधिकाधिक प्रतिबद्ध करती जा रही है। एक प्रतिबद्ध मन वाला व्यक्ति कभी भी किसी घटना को गहराई से देखने की क्षमता नहीं रखता। आज की शिक्षा क्रिया-काण्ड तथा

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 3–4.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औपचारिकता तक ही सीमित रह गयी है, जिससे पाखण्ड पनपता है और पाखण्डी व्यक्ति कभी भी सत्य को नहीं जान सकता। तथा-कथित अनुशासन भी हमारी वर्तमान शिक्षा की ही देन है जो एक प्रकार का दमन है। दमनात्मक नीति के कारण ही अनुशासहीनता फैलती है और हम वास्तविक अनुशासन से दूर होते जा रहे हैं। बोध-पूर्ण बाह्य एवं आन्तरिक व्यवस्था से ही वास्तविक अनुशासन उत्पन्न होता है, जो मुक्ति का बोध कराता है।

आज की शिक्षा व्यक्ति को दिन-प्रति-दिन निष्क्रिय एवं अकर्मण्य बनाती जा रही है, क्योंकि आज का समाज अकर्मण्य निष्क्रिय, वाक्पटु तथा पाखण्डी व्यक्ति को अधिकाधिक महिमा-मण्डित करता जा रहा है। इसके विपरीत शांत, सहज एवं कर्मठता का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की घोर उपेक्षा की जा रही है। स्पष्ट है हमारी वर्तमान शिक्षा जिस केन्द्र के इर्द-गिर्द घूम रही है, वह केन्द्र गलत है: क्योंकि प्रतियोगिता महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या, अकर्मण्यता तथा अनुकरण की धुरी पर घूमने वाली शिक्षा मानव-जीवन में कभी भी सुख, शांति, प्रेम, करुणा एवं मैत्री को नहीं उत्पन्न कर सकती, जो मनुष्य को सही माने में मनुष्य बनाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

जे० कृष्णमूर्ति की शैक्षिक विचारधारा

श्री जे० कृष्णमूर्ति की शैक्षिक विचारधारा सामान्य दार्शनिकों एवं शिक्षा विदों की शैक्षिक विचार धाराओं से बहुत भिन्न है। कृष्णमूर्ति जी की शैक्षिक विचार धाराएँ उनकी उन दार्शनिक विचार धाराओं की उत्पाद हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं जिया है। अपने स्वयं के जीवन-अनुभव के आधार पर ही उन्होंने अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया है और इन्हीं दार्शनिक मतों की निष्पत्ति हैं उनकी शैक्षिक विचार धाराएँ। उनका दर्शन एवं उससे उत्पन्न होने वाला उनका शिक्षा दर्शन न तो कोरी कल्पना है, न ही किन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या ही। आपका मानना है कि इन विचारों के अनुरूप यदि बच्चों को शिक्षित किया जाय तो निश्चित रूप से एक नूतन संस्कृति तथा नूतन विश्व का निर्माण हो सकता है। इनकी शिक्षाओं के आधार पर शिक्षित किए गए नूतन समाज में बाह्य एवं अभ्यंतर की समस्त मानवीय समस्याओं का सहजता से निदान किया जा सकता है। कृष्णमूर्ति जी की शिक्षाएँ किसी देश-काल या परिस्थितियों से आबद्ध न होकर सार्वभौम हैं। उनका मानना है कि विश्व के समस्त मानव एक जैसे हैं, अतः उनकी समस्याएँ भी एक जैसी हैं। ऐसा नहीं है कि भारत के लोगों की समस्याएँ तथा विश्व के किसी अन्य भाग में रहने वालों की मौलिक समस्याएँ अलग-अलग हैं, अपितु वे एक जैसी ही हैं। परिस्थितियों एवं जलवायु की भिन्नता के कारण उनके आचार-विचार, रहन-सहन तथा रंग-रूप में थोड़े-बहुत बाह्य अन्तर अवश्य हैं, लेकिन जहाँ तक मानव-जीवन की मूलभूत समस्याओं का प्रश्न है, वे निश्चित रूप से एक जैसी हैं। आपका कहना है :—

"चाहे भारत हो चाहे अमेरिका या रूस हो, मानव-मन सर्वत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान है। केवल यह स्वयं को भिन्न-भिन्न मुल्कों और भिन्न-भिन्न शासनों के तले भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट करता है।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का जीवन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही प्रकार की संस्कृतियों और सभ्यताओं से जुड़ा रहा है, अतः उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से संपूर्ण विश्व की मानवीय समस्याओं को बहुत समीप से देखा एवं अनुभव किया था। यही कारण है कि उनकी दार्शनिक दृष्टि एकांगी न होकर सार्वभौम है। एक दक्षिण भारतीय ब्राह्मण परिवार में पैदा होने, ममतामयी माता की कृष्ण भक्ति, पिता जी की थियोसोफिस्ट विचार धाराओं से लगाव एवं बिशप लीडबीटर तथा श्रीमती एनीबेसेंट जैसे पाश्चात्य मनीषियों की आध्यात्मिकता के प्रभावी छाया के कारण उनकी दृष्टि वास्तव में सार्वभौम है। वे संपूर्ण मानवता का हृदय से कल्याण चाहते थे, अतः उनकी शिक्षाएँ भी तदनुरूप हैं। वे चाहते थे कि इस भूमण्डल का प्रत्येक मनुष्य पूर्ण-रूपेण मुक्ति का अनुभव करे और इसी को वे अपने जीवन का उद्देश्य भी मानते थे। उनका कहना है कि :—

"मेरे जीवन का एक मात्र उद्देश्य है लोगों को उस मुक्ति और आनन्द को प्राप्त करने में सहायता करना जिन्हें मैं स्वयं प्राप्त कर चुका हूँ और जो संपूर्ण मानवता के लिए अंतिम लक्ष्य है।"[2]

कृष्णमूर्ति जी सत्य, परमात्मा तथा मुक्ति को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। उनका मानना है कि सत्य की खोज ही मानव-जीवन का एक मात्र उद्देश्य है तथा सत्य की खोज ही वास्तविक शिक्षा है।

"मानव के अस्तित्व का एक ही उद्देश्य है, वह है सत्य की खोज करना, परमात्मा की खोज करना। यदि थोड़े से शिक्षकों का एक छोटा-सा समुदाय भी इसे समझ ले और अपना समग्र ध्यान इस खोज में लगा दे तो वे एक नूतन शिक्षा का निर्माण करेंगे।"[3]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 84,
2. परिसंवाद, अंक 8, पृ० 1,
3. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 197,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कृपया आप विश्वास करें कि सत्य की खोज ही वास्तविक शिक्षा है।"[1]

मात्र पढ़ना लिखना जान लेना या कुछ तथ्यों की जानकारी का संग्रह कर लेना ही शिक्षा नहीं है। आपका कहना है कि कुछ विषयों का अध्ययन कर लेना, यह तो शिक्षा का केवल एक छोटा सा अंग है। किन्तु हमारा जीवन तो बहुत ही व्यापक और विशाल है। इसे समझने के लिए हमें शिक्षित ही नहीं किया जाता, इसे समझने के लिए हमारे पास कोई मार्ग नहीं है। कृष्णमूर्ति जी की शिक्षा का हृदय या सार उनके द्वारा दिए गए इस कथन में निहित है :—

"सत्य एक पथहीन भूमि है। मनुष्य उस तक न तो किसी संगठन, किसी पंथ, किसी अभिनिवेश, पुरोहित या कर्मकाण्ड के जरिये पहुँच सकता है और न किसी दार्शनिक ज्ञान, अथवा मनोवैज्ञानिक प्रविधि के द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। बौद्धिक विश्लेषण अथवा अन्तर्दर्शी विश्लेषण के द्वारा भी सत्य को नहीं पाया जा सकता, उसे तो संबंधों के दर्पण द्वारा अपने मानस तत्त्व के बोध द्वारा तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।"[2]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि यदि एक भी व्यक्ति सत्य को उपलब्ध हुआ है तो यह सभी मनुष्य के साथ क्यों नहीं घटित हो सकता। यदि यह सत्य मेरे में उद्घाटित हुआ तो सभी में उद्घाटित हो सकता है। हाँ शर्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि से सीखने की कला ज्ञात होनी चाहिए। सत्य वास्तव में कोई गन्तव्य नहीं है अपितु वह मानव चेतना का पूर्ण विकास है, वह मानव के अन्तर्मन का सहज प्रस्फुटन है। सत्य की खोज के संबंध में अपने अनुभव व्यक्त करते हुए आपका कहना है :—

"हर एक को सुनने का मेरा अभ्यास रहा है। अपने प्रियतम के साथ एक हो जाने के लिए मैं हमेशा माली से, चाण्डाल से, अछूत से,

---

1. वही, पृ० 214,
2. परिसंवाद, अंक अक्टूबर 1986, पृ० 7,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने पड़ोसी से, अपने मित्र से, जो भी सिखा सके, ऐसी हर वस्तु से मैंने सीखना चाहा। सबको सुनने पर जहाँ भी मुझे सत्य मिला, मैने उसे एकत्र किया और अपने आपको पूरी तरह विकसित कर सका।"[1]

मुक्ति प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव है। हम केवल यह मान बैठे हैं कि मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। हमारी दासता, हमारा बंधन, हमारी मान्यताओं का परिणाम है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हम परिस्थितियों के पूर्ण स्वामी हैं। परिस्थितियाँ हमारे द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, जिस क्षण हमें यह पहचान हो जाती है कि हमारा दुःख हमारा बंधन हमारी स्वयं की ही रचना है, उसी दिन सत्य स्वयं ही अपने आप को प्रकट कर देता है। अपने अनुभव के सहज विकास से जब मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक सीमाओं को गिरा देता है, तो वह स्वयं अपने को सत्य के महासागर में स्थित पाता है। उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह परम मुक्ति की भावदशा ही मनुष्य के विकास का गौरीशंकर है। शिक्षा के प्रयोजन पर बोलते हुए आपने कहा है कि :—

"सबसे पहले मैं आपको यह दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि मनुष्य, व्यक्ति सर्वथा मुक्त है। वह परिस्थितियों का पूर्णतया स्वामी है। वह मुक्त है और इसीलिए सीमित भी है, क्योंकि उसकी मुक्ति उसके चयन सामर्थ्य में निहित है। लेकिन आप अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हैं और उस समझ का पूर्ण विकास भी आप में नहीं हुआ है, और इसलिए आप सीमित हैं। अनुभव के सहज विकास से आप इस सीमा को तोड़ सकते हैं और उससे मुक्त हो सकते है।"[2]

कृष्णमूर्ति जी सत्य को जीवन से भिन्न नहीं मानते। उनका कहना है कि "सत्य" जीवन से कुछ अलग चीज नहीं है। जो लोग सत्य की जीवन से अलग कोई परिकल्पना करते हैं, वे वस्तुतः सत्य से पूर्णतः अनभिज्ञ होते हैं। वास्तव में शिक्षा जीवन को समझने की ही एक

---

1. परिसंवाद, अंक 5, पृ० 9.
2. परिसंवाद, अंक 11, पृ० 2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया है। जिसने भी जीवन को उसके अपने वास्तविक स्वरूप में समझ लिया है और तदनुरूप उसका जीवन भी है, तो वह व्यक्ति सत्य से भिन्न नहीं है। कृष्णमूर्ति जी की दृष्टि में सत्य न तो कोई रहस्यमय वस्तु है, न ही जीवन का कोई गुह्य आयाम ही है। वे कहते हैं कि सत्य को रहस्यपूर्ण एवं गुह्य बनाने वाले, सत्य पर सीमाओं, धार्मिक मतों, विश्वासों एवं परम्पराओं का आरोपण करने वाले सत्य से परे हैं। अपनी शिक्षाओं के संबंध में वे कहते हैं :—

"मेरी शिक्षाएँ न रहस्यपूर्ण हैं न गुह्य हैं, क्योंकि मेरी समझ से रहस्यवाद एवं गुह्य विद्या ये दोनों ही मनुष्य द्वारा सत्य पर सीमाअ के आरोपण हैं। धार्मिक मतों एवं विश्वासों से जीवन कहीं अधिकों महत्वपूर्ण है और जीवन को पूरी तरह फूलने-फलने का मौका देने के लिए यह आवश्यक है कि आप जीवन को विश्वास, परम्परा और प्रामाण्य से मुक्त कर दें। परन्तु जो लोग इन चीजों से बँधे हैं, उन्हें सत्य को समझने में कठिनाई होगी।"[1]

यद्यपि कृष्णमूर्ति जी वैज्ञानिक खोजों, आविष्कारों तथा संसाधनों में वृद्धि करने के पक्षपाती हैं, फिर भी वे उन सबका उपयोग उसी सीमा तक चाहते हैं, जिस सीमा तक मनुष्य के जीवन को सुरक्षित तथा सुखमय बनाया जा सके। उनका मानना है कि शिक्षा समष्टिगत जीवन को समझने में सहायक सिद्ध होती है अर्थात् शिक्षा मनुष्य एवं प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जो शिक्षा प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति कराने में सहायक सिद्ध नहीं होती, वह शिक्षा अपूर्ण है। यदि प्रकृति एवं मनुष्य के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं रहा है तो पर्यावरण असुरक्षित हो जाएगा। सत्य की अनुभूति के लिए भी प्रकृति एवं मनुष्य के बीच सामंजस्य अनिवार्य है। आपका मानना है कि मनुष्य केवल पुस्तकों से ही नहीं सीखता अपितु पक्षियों के कलरव, प्रातः एवं सायं के सौन्दर्य, बोझ ढोते कृषक मजदूर, नदियों एवं झरनों का कल-कल निनाद, वृक्षों से सरगम छेड़ती हवाएँ, पीत पत्तों का वृक्षों से गिरना, नवीन कपोलों

1. परिसंवाद, अंक 8, पृ० 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का फूटना, चाँद-तारों भरा आकाश, यह सभी कुछ हमें बहुमूल्य शिक्षा प्रदान करते हैं।

आपका कहना है कि हमारे अन्तर्तम में छिपी हुई तमाम कुरूपताएँ, हिंसा, पाशविकता और विश्व में जो कुछ घटित हो रहा है, उसके प्रति सचेष्ट अवलोकन भी शिक्षा है। मनुष्य को प्रकृति के साथ अपने वास्तविक संबंधों एवं सामंजस्य को ठीक से समझना भी शिक्षा का ही अंग है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति के विनाश के लिए इतने संसाधन जुटा लिए हैं कि यदि हमारे हृदय में मनुष्य तथा जीवन के लिए प्रेम एवं करुणा का अभ्युदय नहीं हुआ तो हम शीघ्र ही नष्ट हो जाएँगे, और इस सुन्दर ग्रह अर्थात् पृथ्वी पर जीवन का सदा के लिए लोप हो जाएगा। यह सब कुछ समझना भी हमारी शिक्षा का ही अंग है, क्योंकि मनुष्यता इसके पूर्व कभी भी ऐसी खतरनाक स्थिति में नहीं रही है। पर्यावरण पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए आपका कहना है :—

"जहाँ कहीं आप जाते हैं, नगरों में या दूसरे स्थानों पर, मानव प्रकृति को नष्ट कर रहा है। कारों तथा उद्योगों से आबो हवा दूषित कर रहा है। मनुष्य जीव-जन्तुओं को नष्ट कर रहा है। इस प्रकार सारे विश्व में मनुष्य धीरे-धीरे विनाश फैला रहा है।"[1]

पुस्तकों से सीखना, तथ्यों को कण्ठस्थ करना ही शिक्षा नहीं है। यह शिखना भी शिक्षा है कि अवलोकन कैसे किया जाय। पुस्तकें जो कह रही हैं उसे कैसे सुना जाय कि जो वे कह रही हैं वह सच है अथवा झूठ। सच को सच की तरह स्वीकार करना तथा झूठ को झूठ की तरह स्वीकार करना भी शिक्षा का ही अंग है, और यह जानना भी शिक्षा का ही अंग है कि जो अब तक सत्य कहा गया है, उसमें असत्य क्या है तथा जिसे अब तक असत्य कहकर अस्वीकार कर दिया गया है, उसमें सत्य क्या है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि तमाम प्राचीन मूल्यों को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लेना या उनके अनुरूप अपने को बनाते जाना शिक्षा नहीं है क्योंकि ये मूल्य वास्तव

1. शिक्षा संवाद, पृ० 1,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हमें धन, पद, सम्मान, शक्ति आदि को ही इकट्ठा करने को प्रेरित करते हैं। इस प्रक्रिया में मनुष्य क्रूर, विक्षिप्त, हिंसक एवं अन्ततोगत्वा अधार्मिक होता जा रहा है। वास्तविक शिक्षा का प्रारंभ तो तब होता है जब आप :--

"विचार करना, निरीक्षण करना, सीखना आरंभ करें – सीखना पुस्तकों से नहीं वरन् स्वयं विश्व में जो चारों ओर हो रहा है उसे देखकर, सुनकर, तो आप एक ऐसे भिन्न प्रकार के मनुष्य के रूप में विकसित हो सकते हैं जो सतर्क है, जिसमें स्नेह है, जो लोगों से प्रेम करता है। यदि आप इस प्रकार से रहें तो संभवतः आपको एक सच्चा धार्मिक जीवन प्राप्त हो सकता है।"[1]

सम्पूर्ण विश्व आजकल वास्तविक शिक्षा के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपना रहा है, क्योंकि संपूर्ण विश्व में मानव ऊर्जा तथाकथित क्रान्तियों के रूप में व्यय हो रही है और इन क्रान्तियों के माध्यम से मानवीय समस्याओं का स्थायी हल ढूँढा जा रहा है। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि वर्तमान विकट परिस्थिति में सभी क्रान्तियाँ विफल होती जा रही हैं। वास्तविक क्रान्ति तो शिक्षा के माध्यम से ही हो सकती है। जब हमारे जीवन में शिक्षा को उचित स्थान मिलेगा और हम शिक्षा के महत्त्व को गहराई से समझने लगेंगे तो मानवीय समस्याएँ अपने आप विदा होने लगेंगी। जब हम बोध पूर्वक किसी वस्तु की वास्तविकता को ठीक-ठीक समझ लेते हैं तो इस समझ से क्रान्ति स्वतः घटित होने लगती है और शिक्षा में होने वाली क्रान्ति कोई बल पूर्वक स्थापित की जाने वाली प्रक्रिया नहीं है अपितु यह तो परम मौन में घटित होने वाली घटना है। यदि हम स्वयं को समझना आरंभ कर दें तो जीवन क्या है? इसे भी समझ लेंगे, और जीवन को अपने समग्र रूप में समझ लेना ही शिक्षा की इतिश्री है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 3,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जीवन को समझने का अर्थ स्वयं अपने को समझना है और यही शिक्षा का आरंभ और अन्त दोनों है।"[1]

बच्चे जन्म से ही निर्दोष एवं जिज्ञासु होते हैं, उनकी इस प्रवृत्ति को विकसित करते रहना ही शिक्षा है। बच्चों पर किसी प्रकार भय तथा प्रतिस्पर्धा आदि के आरोपण से उनके जिज्ञासा का पुष्प मुरझा जाता है क्योंकि भय एवं प्रतिस्पर्द्धा उनके मन को कुण्ठित कर देती है जिससे उनका पूरा जीवन दुःखी एवं नारकीय हो जाता है। सामान्यतः हम बच्चों को दण्ड या पुरस्कार के माध्यम से उन्हें आज्ञाकारी बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कृष्णमूर्ति जी ऐसी शिक्षा के अत्यंत विरोधी हैं। वे बच्चों को किसी प्रकार के तथाकथित धार्मिक संस्कारों से संस्कारित करने की प्रक्रिया के भी सदा विरोधी रहे हैं। उनका कहना है कि धार्मिक संस्कार बालक की चेतना को प्रतिबद्ध कर देता है और प्रतिबद्ध मन में कभी भी वास्तविक क्रान्ति नहीं पैदा की जा सकती। बालक को समाज के अनुकूल बनाने वाली शिक्षा को वे कभी पसंद नहीं करते थे। वे बच्चों का विकास पूर्ण स्वतंत्रता में करने के पक्षधर थे। उनका कहना है कि जो शिक्षा बालक को स्वतंत्रता में विकास नहीं करती वह शिक्षा नहीं है, अपितु वह एक प्रकार की अशिक्षा है।

"केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता में ही प्रेम और अच्छाई पुष्पित हो सकती है और स्वतंत्रता केवल उचित प्रकार की शिक्षा ही दे सकती है। वर्तमान समाज से अनुरूपता तथा भविष्य के किसी यूटोपिया की आशा दोनों में से कोई भी व्यक्ति को दृष्टि प्रदान नहीं कर सकती जिसके अभाव में वह निरन्तर समस्याओं को उत्पन्न कर रहा है।"[1]

शिक्षा में भय का कोई मूल्य नहीं है। भय पर आधारित शिक्षा बालक को आज्ञाकारी तो बनाती है परन्तु मन की सरलता एवं

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 6, जे० कृष्णमूर्ति, कृ० फा० इं०, वाराणसी।

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 22,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताजगी सदा के लिए समाप्त हो जाती है। भय की भयानकता पर बोलते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"वह भय ही है जो मन को पुष्पित होने से रोकता है, अच्छाई को पुष्पित होने से रोकता है। भय वस्तुतः आज्ञा पालन तथा अधिकार का सार-तत्व है, माता-पिता और सरकारें आज्ञा पालन चाहती हैं। जब आप आज्ञा पालन करते हैं तो आप सोचना बन्द कर देते हैं। मस्तिष्क जब आज्ञा कारिता के किसी प्रारूप के अनुरूप हो रहा है तो वह ताजगी के योग्य नहीं रहता और न तो वह सरलता एवं स्पष्टता से सोच ही सकता है।"[1]

कृष्णमूर्ति जी किसी आदर्श के अनुरूप बालक को शिक्षित करने का सदा विरोध करते हैं। वे यह नहीं चाहते कि बालक को किसी आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया जाय, क्योंकि कोई भीं आदर्श भविष्य में पलायन करने की कल्पना उत्पन्न करता है और वर्तमान को नष्ट कर देता है। वर्तमान में जीने वाला मन स्व-स्फूर्त एवं ताजगी से भरा होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति भविष्य में अहिंसक होने का व्रत लेता है तो वह वास्तव में वर्तमान में अपने हिंसक प्रवृत्ति को ठीक से नहीं देखता, अतः वह हिंसक का हिंसक बना रहता है। यदि वह अपने वर्तमान हिंसक प्रवृत्तियों का ठीक से अवलोकन करें तो यह अवलोकन ही उसे अहिंसक बना सकता है। "अहिंसा परमो धर्मः" का आदर्श उसे कभी भी अहिंसक नहीं बना सकता। इसलिए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"आदर्शों का शिक्षा में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे वर्तमान के अवबोध में बाधक बनते हैं। जो वास्तविकता है उसके प्रति निस्संदेह हम तभी जागरूक हो सकते हैं, जब हम भविष्य में पलायन नहीं करते। भविष्य की ओर देखना, किसी आदर्श के लिए संघर्षशील होना इसका सूचक है कि हम वर्तमान से बचना चाहते हैं तथा हमारा मन स्फूर्तिविहीन है।"[2]

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 31–32,
2. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृष्ठ 14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उचित प्रकार की शिक्षा का किसी विचार या सिद्धान्त से कोई लगाव नहीं होता, वह विचार या सिद्धान्त चाहे जितना भी स्वर्णिम भविष्य की आशा दिलाता हो। उचित शिक्षा किसी व्यवस्था पर भी आधारित नहीं होती, चाहे वह व्यवस्था कितनी ही सावधानी से क्यों न बनाई गई हो। इसी प्रकार उचित शिक्षा व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार से प्रतिबद्ध करने का भी साधन नहीं है, उचित शिक्षा व्यक्ति को परिपक्व तथा मुक्त करने में, उसके अन्तर्तम में स्वतंत्रता, अच्छाई तथा प्रज्ञा जागरण के साथ-साथ ध्यान सीखने, भय का अन्त करने, उत्तरदायित्व का बोध कराने, परम्पराओं से मुक्त होने, जीने की कला सिखाने, सहयोग की भावना उत्पन्न करने, समष्टि के प्रति अपने सम्बन्धों को समझने आदि में उसकी सहायता करती है। सिद्धान्तों एवं आदर्शों के लीक पर चलने वाली शिक्षा बालक को कार्यकुशल तो बना सकती है, परन्तु सर्जनशीलता को जन्म नहीं देती। ऐसी शिक्षा का विरोध करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"जब तक शिक्षा बने-बनाये सिद्धान्तों पर आधारित है, तब तक यद्यपि वह ऐसे स्त्री और पुरुष का निर्माण कर सकती है जो कार्यकुशल हों, परन्तु वह सर्जनशील मनुष्यों को नहीं उत्पन्न कर सकती।"[1]

सामान्य विश्वास एवं संतोष का शिक्षा में कोई महत्व नहीं है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जो शिक्षा बालक के मन में असंतोष तथा संदेह का दीप जलाये रहती है, वही वास्तविक शिक्षा है क्योंकि संदेह एक महाऔषधि है तथा असंतोष गहरी से गहरी खोज करने का प्रेरणा स्रोत है। इसके अभाव में बालक की सारी जिज्ञासाएँ ही नष्ट हो जाती हैं। झूठे संतोष एवं विश्वास का भाव उसे निष्क्रिय एवं नीरस बना देता है।

"मेरी समझ यह है कि सत्य की खोज और समझ के लिए संदेह अनिवार्य है। संदेह तथा संदेह द्वारा की जानेवाली कठोर जाँच-पड़ताल, इन दोनों को बुलाये बिना यदि आप किसी चीज को सीधे

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लेते हैं तो आपको सत्य की खोज में जो प्राप्त होगा वह असली नहीं होगा।"[1]

विश्वासों, हठधर्मों तथा मताग्रहों पर प्रहार करते हुए आपका कहना है :—

"शाश्वत सत्य की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आप न केवल अपने विश्वासों, हठधर्मों और मताग्रहों को बल्कि सत्य की अपनी अधकचरी समझ को तथा कायरता और भय से उत्पन्न सत्य की अपनी झलक को भी एक किनारे रख दें। और यह तभी संभव है जब आप सदा अस्वीकार करते रहें, सदा प्रश्न करते रहें, कभी संतुष्ट न हो, उन चीजों की पूजा न करने लग जायें जो सत्य और आपके बीच खड़ी है।"[2]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि वास्तविक शिक्षा बालक में दया, करुणा, सर्जनशीलता, अस्तित्व से लयबद्धता, मृत्यु को जीते जी समझने की क्षमता तथा जीने की कला आदि सद्गुणों को विकसित करती है, और अंत में वह सत्य का अनुभव करके विश्वात्मा में विलीन हो जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक, अभिभावक एवं शिक्षण संस्थाओं की की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सच्चे अर्थों में शिक्षक का कार्य यह है कि वह बालक का सजग, सावधान एवं आत्म-सचेत होकर अध्ययन करे। इस कार्य के लिए शिक्षक में बुद्धि, प्रेम एवं करुणा का समावेश होना चाहिए। ऐसा शिक्षक जो बालक का सहजता पूर्वक विकास करने के बजाय उसे किसी आदर्श या पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है, वह स्वयं अपना, अपने बालक का तथा समाज का घोर अहित करता है। उनका कहना है :—

"शिक्षक वह है जो प्रज्ञा, सत्य के लिए मार्ग-निर्देशन करता है। सत्य अध्यापक से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। एक नवीन समाज की

---

1. परिसंवाद, अंक 7, पृ० 6.
2. परिसंवाद, अंक 7 पृ० 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना के लिए हममें से प्रत्येक को एक सच्चा अध्यापक बनना पड़ेगा, जिसका अर्थ है कि हमको शिष्य और गुरु दोनों ही बनना होगा।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सही शिक्षा सही शिक्षक एवं सही अभिभावक से ही आरंभ होती है। द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति ही संपूर्ण दुःखों का मूल है। जब शिक्षक एवं अभिभावक दोनों की मनः-स्थितियाँ निर्द्वन्द्व होती हैं तो सही शिक्षा का प्रारंभ होता है। सच्चा अभिभावक वही है जो अपने बालक को वास्तव में समझने की इच्छा रखता है। वह बालक को किसी आदर्श या सिद्धान्त के आवरण में ढँकने के बजाय उसकी वास्तविक अभिरुचियों, मनोदशाओं एवं विशेषताओं को समझाने का प्रयास करता है। जब कोई अभिभावक वास्तव में अपने बालक से प्रेम करता है तो वह उसे दूषित शिक्षा प्राप्त करने की कभी भी अनुमति नहीं देता। बहुत से अभिभावक अपनी जीवन-पद्धति के द्वारा भी बालक में द्वन्द्व का सृजन करते हैं और जब बड़ा होकर वह दुःख एवं कष्ट उठाता है तो उसके लिए प्रार्थना करते हैं तथा उसके व्यवहार के लिए बहाने खोजते हैं। अभि-भावकों से प्रश्न करते हुए आप कहते हैं :—

"क्या अभिभावक यह दावा कर सकते हैं कि वे अपने बच्चों से प्रेम करते हैं, जबकि दोषपूर्ण शिक्षा देकर वे उनमें द्वेष और बैर-भाव, तथा महत्त्वाकांक्षा का पोषण कर रहे हैं? क्या यह प्रेम है जो ऐसे राष्ट्रीय और जातीय संघर्ष उत्प्रेरित करता है, जिनसे युद्ध, विनाश और अपार कष्ट होता है, जो धर्म और विचार-प्रणालियों के नाम पर मनुष्य को मनुष्य के विरोध में खड़ा कर देता है?"[2]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सही शिक्षा का संबंध व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं मुक्ति से है। सांसारिक अर्थों में जो विद्यालय सफल माने जाते हैं, शिक्षा केन्द्रों के रूप में उनके असफल होने की ही संभावना अधिक होती है। क्योंकि बहुत बड़ी एवं बहुत समृद्धशील संस्थाएँ जिसमें सैकड़ों बच्चों को एक साथ बड़ी तड़क-भड़क के साथ

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 91,
2. वही, पृ० 96,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफलता पूर्वक शिक्षा देने का दावा किया जाता है, वे मात्र लिपिक, अच्छे विक्रेता, उद्योग पति तथा राजकीय विभागों के अध्यक्ष जैसे सतही व्यक्तियों को ही उत्पन्न करती हैं। कृष्णमूर्ति जी का विश्वास है कि छोटे विद्यालय जहाँ छात्रों की संख्या कम है, जहाँ के शिक्षक योग्य हैं और अपने कार्यों को उचित प्रकार से करते हैं, वे बड़े विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होते हैं। जहाँ छात्रों की संख्या सीमित होती है वहाँ शिक्षक प्रत्येक छात्र का सावधानी पूर्वक निरीक्षण कर सकता है। कक्षाओं में छात्रों की संख्या अधिक होने पर शिक्षक मात्र औपचारिकता ही निभाता है। जब तक समन्वित व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों का अभाव है, तब तक नूतन समाज का कोई भविष्य नहीं है। आपका कहना है:

03179

"आशा केवल समन्वित व्यक्ति से ही की जा सकती है और उन्हें उत्पन्न करने में केवल छोटे विद्यालय ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यही कारण है कि बड़ी शिक्षा संस्थाओं में आधुनिकतम एवं श्रेष्ठतम शिक्षा पद्धतियों का प्रयोग करने के स्थान पर सीमित संख्यामें बालकों एवं बालिकाओं वाले ऐसे विद्यालय का होना अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिनमें उचित प्रकार के शिक्षक अध्यापन कार्य कर रहे हों।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का जीवन अपनी शिक्षाओं के लिए पूर्णरूपेण समर्पित रहा है। उनकी शिक्षाएँ बालक, युवा, वृद्ध तथा संन्यासी सभी के लिए समान रूप में मार्ग दर्शन करती हैं, क्योंकि जीवन के सत्य को जानने की सभी को अभीप्सा है। यद्यपि यह अभीप्सा धन पाने, पद पाने तथा शक्ति एवं प्रतिष्ठा पाने के रूप में दृष्टिगोचर होती है, परन्तु व्यक्ति इन सबको प्राप्त कर लेने के बाद भी संतुष्ट नहीं होता। मनुष्य संतुष्ट तभी हो सकता है जबकि वह स्वयं के लिए सत्य का उद्घाटन कर ले। कृष्णमूर्ति जी के हृदय में मानवता के लिए अपार करुणा रही है, इसीलिए वे बार-बार कहा करते थे कि मेरा कार्य लोगों को बिना शर्त मुक्त करना है। इसी करुणा के कारण वे भारत, इंग्लैंड, अमेरिका तथा स्विट्जर लैंड आदि देशों में

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 79,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन की स्थापना करके विश्व भर में अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालयों का शुभारंभ किए। उनकी इच्छा थी कि उनके जीवन काल के बाद भी इन शिक्षाओं का प्रचार एवं प्रसार होता रहे। अपने जीवन काल में वे बराबर इन विद्यालयों में जाकर सार्वजनिक एवं बिशेष प्रकार की विचार-गोष्ठियाँ तथा वार्ताएँ करते रहे तथा शिक्षा के मूल उद्देश्यों से लोगों को अवगत कराते रहने का अथक प्रयास करते रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

शिक्षा का उद्देश्य

अनेक विचारकों तथा शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों की अवधारणाओं की चर्चा की है। उनकी अवधारणाओं में देश-काल एवं परिस्थितियों के साथ-साथ सांस्कृतिक विषमताओं के कारण अनेक प्रकार की विविधताएँ पाई जाती हैं। कृष्णमूर्ति जी का चिंतन देश-काल परिस्थिति एवं सांस्कृतिक विषमताओं की सीमा से परे जाकर शाश्वत जीवन को समझने में मानवता की सहायता करता है। यही कारण है कि उनकी शिक्षा एवं शिक्षा के उद्देश्यों में भी उसी शाश्वत की झलक मिलती है। शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है।

जीवन के रहस्यों को समझना :

मानव मन विसंगतियों का एक समुच्चय है। ऐसी स्थिति में समाज के प्रत्येक वर्ग को विशेष रूप में माता-पिता तथा शिक्षक को इस प्रश्न पर गंभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए कि शिक्षा क्या है? कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि मात्र साक्षर हो जाना, कुछ परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेना, कुछ तकनीकी ज्ञान प्राप्त कर लेना या कुछ छोटे-मोटे कार्यों द्वारा अपनी आजीविका प्राप्त करने में कुशलता प्राप्त कर लेना ही शिक्षा नहीं है, अपितु :—

"शिक्षा का कार्य है कि बालक को बचपन से ही जीवन की संपूर्ण प्रक्रिया को समझने में सहायता करे। निस्संदेह केवल उद्योग या कोई व्यवसाय ही जीवन नहीं है। जीवन बड़ा अद्भुत है, यह असीम और अगाध है, यह अनन्त रहस्यों को लिये हुए है, यह एक विशाल साम्राज्य है जहाँ हम मानव कर्म करते हैं। यदि हम अपने आपको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल आजीविका के लिए तैयार करते हैं तो हम जीवन का पूरा लक्ष्य ही खो देते हैं।"[1]

जीवन हमारे-तुम्हारे के रूप में खण्डों में नहीं बँटा है। जीवन अपने आप में एक अखण्ड सत्ता है। ये फूल, रंग-विरंगे पक्षी, ये वैभवशाली, वृक्ष, यह आकाश जिसमें अनन्त तारे हैं, जीवन दायिनी सरिताएँ, विशाल पर्वत मालाएँ, यह सब कुछ हमारा जीवन ही तो है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि ऐसा लगता है कि जीवन समृद्ध भी है तो जीवन दीन भी है; जीवन समुदायों, जातियों और देशों का पारस्परिक सतत् संघर्ष भी है। जीवन ध्यान भी है और धर्म भी, जीवन बड़ा गूढ़ है। जीवन मन की प्रच्छन्न वस्तुओं जैसे ईर्ष्या, महत्वाकांक्षाएँ, वासनाएँ, भय एवं सफलताएँ, नाना प्रकार की चिन्ताएँ और इतना ही नहीं, जीवन कहीं इससे भी अधिक है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हम जीवन के कुछ अंशों में ही अपना पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं। अतएव :

"शिक्षा का कार्य है कि वह सम्पूर्ण जीवन की प्रक्रिया को समझने में हमारी सहायता करे, न कि हमें केवल कुछ व्यवसाय या ऊँची नौकरियों के योग्य बनाये।"[2]

स्वयं के अस्तित्व को समझना :

हमारी समस्त शिक्षा बाह्य वस्तुओं के संबंध में ज्ञान-संकलन की पक्षधर है। हमने बहुत कम ऐसे क्षण निकाले हैं जबकि हम स्वयं के बारे में जानने की जिज्ञासा रखते हों। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि ऐसे लोग जो बाह्य वस्तुओं के बारे में तो अच्छी जानकारी रखते हैं, परन्तु स्वयं के बारे में पूर्णतः अज्ञानी हैं, उन्हें शिक्षित तो कहा ही नहीं जा सकता। स्वयं के अस्तित्व का परिचय कराने वाली शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है, क्योंकि स्वयं के ज्ञान में सब कुछ निहित है। आपका कहना है :—

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 1,
2. वही, पृ० 2,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो विद्वान् नहीं है; अज्ञानी वह व्यक्ति है जो स्वयं अपने को नहीं जानता, और इस अवबोध के लिए जब विद्वान् व्यक्ति पोथियों पर ज्ञान पर और सत्ता पर निर्भर करता है तो वह मूढ़ है। अवबोध केवल आत्मज्ञान से आता है, जो कि अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवधान है। इस प्रकार शिक्षा का वास्तविक अर्थ अपने को समझना है, क्योंकि अस्तित्व अपनी संपूर्णता में हममें से प्रत्येक में संकलित है।"[1]

जिज्ञासा का दीप प्रज्ज्वलित करना :

बालकों में जानने की जिज्ञासा एवं सीखने की प्रवृत्ति सहज रूप में विद्यमान होती है। शिक्षा का मूल उद्देश्य यह है कि बालक में प्रकृति प्रदत्त इन गुणों का सदा ही विकास करने में उनकी सहायता करे। शिक्षा एक ऐसा संरक्षण है जिसमें बालक के जिज्ञासा का पुष्प सदा जीवन्त बना रहता है। शिक्षा एक ऐसी व्यवस्था है जो बालक में जिज्ञासा एवं सीखने की प्रवृत्ति के पुष्प को मुरझाने से बचाती है। जिज्ञासा की प्रवृत्ति से बालक सब कुछ सीखने में समर्थ हो जाता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"सहज जिज्ञासा एवं सीखने की प्रवृत्ति बालक में बिल्कुल शुरू से रहती है। अवश्य ही समझदारी के साथ प्रोत्साहन देते रहना चाहिए ताकि वह सक्रिय बनी रहे, विकृत न हो।"[2]

वास्तविकता यह है कि हम बालक की जिज्ञासा को या तो पनपने ही नहीं देते अथवा उसे विकृत कर देते हैं। यदि बालक की सीखने की इस उत्कण्ठा को हमेशा प्रोत्साहित किया जाता रहे तो वह सहज ही गणित, विज्ञान या सामान्य ज्ञान के विषयों को बड़ी सहजता से सीखता चला जाएगा, फिर सीखना उसके लिए कोई समस्या नहीं रह जाएगी।

समग्र मानव का निर्माण करना :

बालक का समग्र विकास करना शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 9,
2. परिसंवाद, अंक 2, पृ० 21,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मानव शरीर प्राप्त हो जाने मात्र से कोई मनुष्य नहीं हो जाता, मनुष्य की अपनी गरिमा होती है जो उचित शिक्षा के माध्यम से प्रस्फुटित होती है। व्यक्ति की संपूर्ण क्षमता को समझने तथा उसके समग्र विकास में उचित शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति के अन्तर्तम में छिपी हुई भगवत्ता या दिव्यता का उद्घाटन उचित शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है। किसी कल्पना, अवधारणा या आदर्श के अनुरूप बनने की प्रेरणा देने वाली शिक्षा मनुष्य के विकास में बाधा डालती है। महत्वाकांक्षा या तुलना के आधार पर दी जाने वाली शिक्षा, समग्र मानव का निर्माण नहीं करती। प्रत्येक व्यक्ति के संपूर्ण विकास से समान व्यक्तियों का समाज निर्मित होता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :--

"प्रत्येक मानव का समग्र विकास हमारा लक्ष्य है। उसको अपने सर्वोच्च और सम्पूर्ण क्षमता को समझने में सहायता करना, न कि ऐसी कोई काल्पनिक क्षमता, जो शिक्षक की दृष्टि में धारणा या ध्येय के रूप में हो। तुलना का भाव व्यक्ति के पूर्ण विकास में बाधा डालता है चाहे वह वैज्ञानिक बने या बागवान। जब तुलना न हो तो बागवान की पूर्ण क्षमता और वैज्ञानिक की पूर्ण क्षमता समान है। पर जब तुलना की जाती है तो फिर उपेक्षा, ईर्ष्या पैदा होती है जो मानव-मानव में संघर्ष उत्पन्न करती है।"[1]

विवेकपूर्ण विद्रोह की क्षमता जागृत करना :

हमारे समाज में नाना प्रकार की रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, परम्पराएँ तथा अनेक प्रकार के भ्रामक जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। शिक्षा का उद्देश्य यह है कि यह समाज में व्याप्त इन सामाजिक दोषों को दूर करने में हमारी सहायता करे तथा वास्तविक जीवन-मूल्यों को समझने का विवेक जागृत करे। भ्रामक जीवन मूल्यों के प्रति विवेकपूर्ण विद्रोह को जन्म देना भी शिक्षा का ही उद्देश्य है। विवेकपूर्ण विद्रोह का अर्थ है कि एक ऐसा विद्रोह जो न तो हिंसात्मक हो न ही यह किसी प्रकार की प्रतिक्रिया हो। यह विद्रोह एक प्रकार

1. परिसंवाद, अंक 2 पृ० 19,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आदर्श को हटाकर दूसरे प्रकारे के आदर्श को प्रतिष्ठित करने से भी सम्बन्धित नहीं है, अपितु यह एक ऐसा विद्रोह है जो अपने विचारों, भावनाओं प्रतिक्रियाओं तथा परम्पराओं आदि के प्रति सदा सचेष्ट रहने से जागृत होता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि विद्रोह दो प्रकार का होता है। एक तो हिंसात्मक विद्रोह जो स्थापित व्यवस्था के विरोध में बिना समझे-बूझे की गई एक प्रतिक्रिया मात्र है और दूसरा विवेकजन्य गहरा मनो-वैज्ञानिक विद्रोह। ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं, जो स्थापित रूढ़िवादी व्यवस्था के विरोध में विद्रोह तो करते हैं, परन्तु पुनः नवीन रूढ़िवादी व्यवस्थाओं, नई भ्रान्तियों एवं प्रच्छन्न आत्म-तुष्टीकरण में ही फँस जाते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि हम एक वर्ग के या स्थिर आदर्शों से पृथक होकर दूसरे वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं या दूसरे आदर्शों को स्वीकार लेते हैं और इस प्रकार विचारों की एक नवीन व्यवस्था प्रणाली का सर्जन करते हैं, जिसके विरोध में पुनः विद्रोह करना पड़ता है। यह प्रतिक्रिया केवल विरोध उत्पन्न करती है और सुधार को पुनः सुधारने की आवश्यकता पड़ती है।

"परन्तु एक ऐसा भी विवेकपूर्ण विद्रोह होता है, जो प्रतिक्रिया मात्र नहीं होता और जो अपने विचारों और भावनाओं के प्रति चेतना द्वारा उत्पन्न आत्म-बोध के साथ आता है। केवल तभी हम अपने विवेक को सम्यक् बुद्धि को, अत्यधिक जाग्रत अवस्था में रख सकते हैं, जब हम अपने अनुभव का जैसे-जैसे वह आता है, साक्षात् करते हैं और विक्षोभ से बचने का प्रयत्न नहीं करते और सर्वाधिक जाग्रत सम्यक् बुद्धि ही अन्तश्चेतना होती है और यही जीवन में वास्तविक मार्गनिर्देशक होती है।"[1]

वास्तविक जीवन-मूल्यों की खोज करना :

हमारी वर्तमान शिक्षा बालक को समाज के अनुकूल बनने या न बनने की ही शिक्षा देती है। इस प्रकार व्यक्ति या तो परम्पराओं और प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों को स्वीकार कर लेता है अथवा उसके विरोध

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 2–3.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में खड़ा हो जाता है। शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह मनुष्य को उसके वास्तविक जीवन-मूल्यों की खोज में उसकी सहायता करें। जो शिक्षा मनुष्य को कुछ सूत्रों से चिपके रहने, नारों को दुहराते रहने या राष्ट्रीय एवं सामाजिक अवरोधों को गौरव प्रदान करने की झूठी प्रेरणा देती है, वह शिक्षा मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदों को जन्म देती है। जो शिक्षा पूर्वाग्रह विहीन होकर आत्म-अवधान की क्षमता जागृत करके मनुष्य को उसके वास्तविक जीवन-मूल्यों की खोज करने में उसकी सहायता करती है, वही वास्तविक शिक्षा है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं—

"शिक्षा का कार्य व्यक्ति को इसके लिए प्रोत्साहित करना नहीं है कि वह समाज के अनुरूप बने और न तो समाज में नकारात्मक सामंजस्यता ही लाना है। वास्तविक जीवन-मूल्यों की खोज में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का कार्य है और ये मूल्य पूर्वाग्रहविहीन अन्वेषण तथा आत्म-अवधान से ही आते हैं। जब आत्मबोध नहीं होता तो आत्माभिव्यक्ति अहंकार हो जाती है और उसके साथ तमाम आक्रामक एवं महत्वाकांक्षी द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं।"[1]

भय का अन्त करना :

भय एक मूलभूत मानवीय समस्या है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह बालक को प्रारंभ से ही किसी प्रकार के भय के प्रभाव से कार्य करने के लिए उसे बाध्य न करे। भय अत्यंत जटिल मनोभाव है, जिसे सुलझाये बिना हमारे शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं होता। जो शिक्षा भय का अन्त करने में हमारी सहायता नहीं करती वह शिक्षा अधूरी होती है, क्योंकि भय से जकड़ा हुआ मन द्वन्द्व एवं उलझन में जीता है, और इसीलिए वह हिंसक, विकृत एवं आक्रामक हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों के बीच स्थायी शांति संभव नहीं है। जो भय से मुक्त नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति सदा अँधेरे में ही भटकते रहते हैं। कृष्णमूर्ति जी का कथन है :—

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 7.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शिक्षा का लक्ष्य केवल विद्वानों, तकनीशियनों तथा व्यवसाय की खोज करने वाले लोगों को ही उत्पन्न करना नहीं है, उसका लक्ष्य ऐसे एकीकृत स्त्री एवं पुरुष उत्पन्न करना है जो भय से मुक्त हों, क्योंकि केवल ऐसे ही व्यक्तियों के बीच स्थायी शांति संभव है।"[1]

सत्य की खोज करना :

कृष्णमूर्ति जी सत्य की खोज को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। वास्तविक शिक्षा तो वही है जो बालक को प्रारंभ से ही सत्य की खोज के लिए प्रेरित करे। उनका कहना है कि यदि थोड़े से शिक्षक भी इस बात को ठीक से समझ लें कि सत्य की खोज ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, तदनुरूप शिक्षा का उद्देश्य भी सत्य की खोज होना चाहिए तो ऐसी शिक्षा ही नूतन विश्व का निर्माण कर सकती है। आपका कहना है :—

"मानव के अस्तित्व का केवल एक ही उद्देश्य है और वह है सत्य की खोज, परमात्मा की खोज करना। यदि थोड़े से शिक्षकों का एक छोटा सा समुदाय भी इसे समझ ले और अपना समग्र ध्यान इसी खोज में लगा दे तो वे एक नूतन शिक्षा का निर्माण करेंगे साथ ही एकदम भिन्न समाज की सृष्टि भी होगी।"[2]

स्वज्ञान में सहायता करना :

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि हमारी संपूर्ण शिक्षा सूचनाओं एवं बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने को ही प्रेरित करती है, परन्तु यह वास्तविक शिक्षा नहीं है। हम चाहे बाह्य वस्तुओं के बारे में कितना भी जान लें, जब तक स्वयं के बारे में नहीं जानते तब तक हम अज्ञानी एवं महामूढ़ ही बने रह जाते हैं। यदि हम "स्व" अर्थात् "आत्म" ज्ञानी हैं तो इसमें हमारी सारी समस्याओं का निदान हो जाता है। क्योंकि आत्मज्ञान में अखिल विश्व समाया हुआ है और इसी आत्मज्ञान में मानवता के समस्त संघर्षों को आत्मसात करने की

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 7.
2. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 197.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमता भी निहित है। आत्मज्ञान के माध्यम से ही हम यह जानना प्रारम्भ करते हैं कि ईश्वर क्या है, सत्य क्या है और समयातीत अवस्था क्या है ? अतः शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य यह है कि वह हमें अपने आप को जानने में हमारी सहायता करे। आपका कहना है कि :—

"भले ही आप विश्व की समस्त उपाधियाँ प्राप्त कर लें, लेकिन यदि आप अपने आपको नहीं जानते तो आप महामूढ़ व्यक्ति हैं। सम्पूर्ण शिक्षा का मूल उद्देश्य ही अपने आपको जानना है, आप भले ही बहुत जानकारी इकट्ठा कर लें, बहुत सा पढ़-लिख लें, परीक्षाएँ उतीर्ण कर लें, परन्तु आत्मज्ञान की अनुपस्थिति में ये सब जीवन के नासमझी के रास्ते हैं।"[1]

ध्यान के वास्तविक स्वरूप को समझना :

"ध्यान" शब्द बहु-आयामी है, अर्थात् "ध्यान" शब्द का प्रयोग कई रूपों में किया जाता है। चेतना को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना, किसी शब्द का निरन्तर उच्चारण करना, केन्द्रित होकर किसी शब्द को सुनना या किसी चीज को देखना इत्यादि प्रक्रिया को ध्यान कहा जाता है। परन्तु कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि स्वयं के मन को समझने की प्रक्रिया का नाम ही ध्यान है। यदि आप अपने ही विचारों को नहीं समझते तब तक आप चाहे जो कुछ भी सोचें उसका कोई अर्थ नहीं है। हमारे मन में उठने वाले सभी विचार हमारी संस्कृति, धर्म, समाज तथा महत्वाकांक्षाओं के परिणाम होते हैं। हम जिस समाज में रहते है, तदनुरूप हमारे विचार भी बनते हैं। विचार से ही विचारक की सत्ता बनती है और विचार समाज के अनुरूप होता है। अतः समाज से पृथक् व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं होती। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"यह जानना कि हमारा मन कैसे कार्य करता है, शिक्षा का मूल उद्देश्य है। यदि आप यह नहीं जानते कि आपके मन में किस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, यदि आपका मन अपने ही क्रिया-कलापों से

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 114.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरिचित है तो आप कभी भी यह नहीं जान सकेंगे कि समाज क्या है ? क्योंकि आपका मन समाज का एक अंश है, यही समाज है। अतः आपका मन समाज से पृथक् नहीं है, यह आपकी संस्कृति, आपके धर्म, आपकी विभिन्न जातियों, आपकी महत्वाकांक्षाओं और संघर्षों से भिन्न नहीं है। समाज से पृथक् आपकी कोई सत्ता नहीं है।"[1]

वास्तविक धार्मिक जीवन का सृजन करना :

सामान्यतया विभिन्न सम्प्रदायों को धर्म कहा जाता है। हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध, ईसाई, सिक्ख आदि को धर्म का विभिन्न रूप समझा जाता है। कृष्णमूर्ति जी इस प्रकार के धर्म को धर्म नहीं मानते, उनका कहना है कि धर्म के नाम पर चलने वाले ये विभिन्न समुदाय एक प्रकार के राजनीतिक के अड्डे हैं। किसी भजन, किसी पूजा विधि, मंदिर, मसजिद या गुरुद्वारे अथवा गीता, पुराण एवं कुरान में भी धर्म नहीं है। वास्तविक धर्म तो सदा पावन और पवित्र होता है। जिस व्यक्ति के हृदय में करुणा, अच्छाई एवं सरिता सदृश निरंतर गतिमान और जीवंत प्रेम की अनुभूति होती है, वही व्यक्ति वास्तविक धर्म को समझ सकता है और उसी का जीवन धार्मिक होता है। वास्तविक शिक्षा हमें साम्प्रदायिक होने से बचाती है तथा वास्तविक धार्मिक जीवन का सृजन करती है। यदि हम अपने मन को मात्र जानकारियों, चतुराइयों और नाना प्रकार की उपाधियों से भरते जाएँगे तो हम कभी भी धार्मिक नहीं हो सकते। आपका कहना है :—

"भले ही आप अत्यंत चतुर हों और दुनियाँभर की जानकारी का संग्रह कर लें, चाहे आप नवीनतम पुस्तकें पढ़ लें, परन्तु जहाँ तक आप अपने हृदय को इस मन की वस्तुओं से भरते रहेंगे, वहाँ तक यह निश्चय है कि आपका जीवन रीता ही रहेगा, कुरूप ही रहेगा, इसका कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। जीवन में सौन्दर्य और अर्थ तो तभी आ सकता है, जब हमारा हृदय मन की समस्त वस्तुओं से परे हो गया हो।"[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 77.
2. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 213.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन जीने की कला सिखाना :

साधारणतया जीवन के किसी विशेष क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने को कला समझा जाता है, जैसे संगीत-कला, मूर्ति-कला, शिल्प-कला, अभिनय की कला, शिक्षण की कला इत्यादि। परन्तु जीवन जीने की कला इन सभी कलाओं से श्रेष्ठ एवं महान् है। जिसने जीवन जीने की कला ठीक से जान ली उससे बड़ा कोई कलाकार नहीं है। वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह अन्य कलाओं के साथ-साथ जीवन जीने की उस महानतम कला को भी सिखाये, जिसके अभाव में मनुष्य, मनुष्य रह ही नहीं जाता। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"जीने की कला महानतम कला है, उन सभी चीजों से महानतर जिसका सृजन मनुष्य के मन या हाथों से हुआ है, सभी धर्मशास्त्र और उनके ईश्वर से भी महानतर। जीने की इस कला से एक नयी संस्कृति का सूत्रपात हो सकता है। दर्शन शब्द का जो आत्यंतिक मर्म है, वही जीने की कला का भी है—सत्य के लिए प्रेम, जीवन के लिए प्रेम। यह ऐसी चीज नहीं है, जिसे सीखने के लिए आपको विश्वविद्यालय जाना पड़े। हम अपने दैनिक जीवन में ही जीने की कला के बारे में सीख सकते हैं।"[1]

जीवन में ही मृत्यु का बोध करना :

मृत्यु हम सभी के लिए एक भयानक चीज है। हमारा मन सदा मृत्यु से भयभीत रहता है। मृत्यु के सम्बन्ध में हम नाना प्रकार की परिकल्पनाएँ किया करते हैं और कोई यह नहीं चाहता कि हम मरें। मृत्यु हमारे लिए कोई सुखद अनुभव नहीं है। यही कारण है कि मृत्यु के उपरान्त हम स्वर्ग जाने की परिकल्पना करते हैं। हमारा सभी का अनुभव है कि इस जीवन में तो कोई सुख-शांति नहीं मिली, परन्तु स्वर्ग में सुख अवश्य मिलेगा। स्वर्ग एवं नर्क की परिकल्पना हमारे मृत्यु के भय का परिणाम है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि शिक्षित होने में यह निहित है कि हम जीते जी मृत्यु का अनुभव कर सकें। आपका कहना है :—

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 76.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शिक्षित होने का केवल यही अर्थ नहीं है कि आप इतिहास, भूगोल या गणित में कुशलता प्राप्त कर लें, अपितु इसका यह भी अर्थ है कि आप इस अद्भुत वस्तु "मौत" को भी समझने की योग्यता प्राप्त करें। मौत अज्ञात है और जीते जी अज्ञात को जानना बहुत मानी रखता है।"[1]

वास्तविक और अखण्ड जीवन का बोध कराना :

मन की विसंगतियाँ जीवन को खण्डों में बाँट देती हैं। वास्तविक जीवन वह है जो एक और अखण्ड है। किसी भी क्षण जो हम कर रहे हैं और जो हमें करना चाहिए, इनमें भेद नहीं होता तो वास्तविक जीवन का सृजन होता है। उदाहरण के लिए हमारे सभी कार्य हिंसा पर आधारित हों और हम अपने को अहिंसा का पुजारी भी समझें तो हमारा जीवन कैसे अखण्ड हो सकता है। द्वैत की अवस्था जीवन को खण्डित कर देती है। अतः वास्तविक शिक्षा हमें अखण्ड जीवन का बोध कराती है, जो वास्तविक जीवन होता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"सचमुच जीवन का अर्थ है किसी वस्तु को जिसे आप प्रेम करते हैं, अपनी पूरी समग्रता के साथ करना ताकि आप में "आप जो कर रहे हैं" और "आपको जो करना चाहिए" इनमें किसी प्रकार की विसंगति न हो, संघर्ष न हो। तब यह जीवन अखण्ड समग्रतामय प्रक्रिया हो जाएगी, जिसमें अनन्त आनन्द है।"[2]

वास्तविक चरित्र का निर्माण करना :

चरित्र निर्माण शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य है। सभी शिक्षा शास्त्री यह मानते हैं कि शिक्षा का कार्य बालक के चरित्र का निर्माण करना है। परन्तु चरित्र का निर्माण कैसे हो ? इस प्रश्न पर चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहना है :—

"चरित्रवान बनने का निश्चित अर्थ है असत्य को त्यागने और सत्य

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 72,
2. वही, पृ० 61,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपनाने की सामर्थ्य रखना। अपने लिए स्वयं सोचना और सत्य की खोज करना और उस सत्य पर दृढ़ रहना, इसी का अर्थ है चरित्र-निर्माण।"[1]

धर्मग्रन्थों, महात्माओं, राजनेताओं, माता-पिता, गुरु या तत्कालीन सरकारें क्या कहती हैं, इस पर बिना सोचे-समझे उनका अनुकरण या अनुसरण करने से चरित्र निर्माण नहीं होता। चरित्र निर्माण के लिए बड़ी मेधा, धैर्य एवं ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सत्य का अनुसरण करे, सत्य को ही अपनाये और असत्य का सदा त्याग करता जाय, चाहे इस कार्य के लिए अपने प्राणों को भी आहुति क्यों न देनी पड़े। भय या पुरस्कार के बल पर आधारित चरित्र अस्थायी एवं मूल्यहीन होता है। सत्य की खोज करने एवं उस पर अडिग बने रहने से जो चरित्र निर्मित होता है, वह स्थायी और मूल्यवान होता है। ऐसे चरित्रवान व्यक्ति का जीवन अपने आप में एक आनन्द होता है।

वास्तविक अनुशासन की समझ उत्पन्न करना :

अनुशासन का सामान्य अर्थ होता है अपने बड़ों के अनुसार स्वयं को बनाना। माता-पिता, शिक्षक जो कुछ कहते हैं उसके अनुरूप चलना, किसी एक इच्छा का प्रतिरोध करना तथा दूसरे को महत्त्व देना, किसी कार्य को किसी विशेष तरीके से पूरा करना ही अनुशासन समझा जाता है। अनुशासन का यह भी अर्थ होता है कि बिना सोचे समझे किसी वस्तु को स्वीकार कर लेना या किसी का त्याग कर देना। कृष्णमूर्ति जी इस प्रकार के बल पूर्वक थोपे गए अनुशासन को महत्वहीन तथा भयानक बताते हैं। उनका कहना है कि वास्तविक अनुशासन का निवास तो मन की अखण्ड सत्ता में निहित होता है। मन की समस्त विसंगतियों को समझने के उपरान्त ही वास्तविक अनुशासन का अस्तित्व प्रकट होता है। वास्तविक शिक्षा से ही वास्तविक अनुशासन की समझ पैदा होती है, और यह तब होगा जब हममें प्रेम एवं सृजनात्मक बोध की क्षमता हो। वास्तव में जब हमारा

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 219,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक क्रिया-कलाप समग्र होता है तो वहाँ अनुशासन नाम की कोई चीज नहीं होती, अनुशासन की अवस्था ही वास्तविक अनुशासन है, जहाँ किसी प्रकार का द्वैत नहीं होता। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"यदि आप प्रेम करते हैं तो अनुशासन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। प्रेम स्वयं सृजनात्मक बोध क्षमता लाता है, इसलिए वहाँ न प्रतिरोध होता है और न संघर्ष। ... ...लेकिन यदि हम केवल प्रतिरोध करेंगे, दमन करेंगे, तो ये दमित वासनाएँ निश्चित रूप से दूसरे रास्ते से प्रकट होकर ही रहेंगी और इस प्रकार विविध हानिकारक प्रवृत्तियाँ और विनाशकारी घटनाएँ चलती ही रहेंगी।"[1]

स्वतंत्रता प्रेम एवं अच्छाई का प्रस्फुटन करना :

सही शिक्षा व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रेम एवं अच्छाई का प्रस्फुटन करने में उसकी सहायता करती है। स्वतंत्र होने के लिए हमें यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि हम पराधीन या परतंत्र क्यों हैं। जब तक पराधीनता के संपूर्ण कारणों को उसकी गहराई से ठीक-ठीक नहीं समझ लिया जाता, तब तक हमारी स्वतंत्रता आकाश कुसुम ही बनकर रह जाती है। एक स्वतंत्र व्यक्ति के हृदय में ही प्रेम एवं अच्छाई का जन्म होता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"स्वतंत्र होने के लिए हमें अपनी इस संपूर्ण आन्तरिक पराधीनता के खिलाफ विद्रोह करना होगा और हम यह तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हम यह नहीं समझ लेते कि हम पराधीन क्यों हैं? जब तक हम सचमुच इस आंतरिक पराधीनता को नहीं समझ लेते और इसका अंत नहीं कर देते तब तक स्वतंत्र होना असंभव है।"[2]

स्वतंत्रता और प्रेम एक सहगामी प्रक्रिया है। प्रेम किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं है और न ही यह भय का उत्पाद है। यदि मैं आपको इसलिए प्रेम करता हूँ कि आप मुझे प्रेम करते हैं या आपकी कोई चीज पसंद है या आप से हम किसी प्रकार भयभीत हैं अथवा

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 103.
2. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 17,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप से मेरा कोई लगाव या स्वार्थ है तो इस प्रकार का प्रेम एक क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाता है। ऐसे प्रेम से तो स्वतंत्रता के बजाय बंधन ही निर्मित होता है। वास्तविक प्रेम किसी से कुछ भी नहीं चाहता है, इसीलिए यह पूर्ण मुक्ति का बोध कराने में समर्थ होता है। प्रेम को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"प्रेम करने का अर्थ है बदले में कुछ भी न चाहना। हमें इस बात का विचार तक न रहे कि हमने कुछ दिया भी है। केवल ऐसा ही प्रेम स्वतंत्रता जान सकता है।"[1]

कृष्णमूर्ति जी जिस प्रेम की चर्चा करते हैं, उसके लिए हमारी शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। वास्तव में ऐसा प्रेम ही व्यक्ति को स्वतंत्रता दे सकता है और ऐसे ही प्रेम में अच्छाई के पुष्प खिल सकते हैं। किसी प्रकार का बंधन, दण्ड या पुरस्कार की प्रक्रिया या अनुकरण एवं अनुसरण के द्वारा हमारे हृदय में अच्छाई प्रकट नहीं होती। अतः शिक्षा का उद्देश्य यह भी होता है कि वह बालक को प्रेम एवं स्वतंत्रता के माध्यम से अच्छाई का प्रस्फुटन करे।

"स्वतंत्रता में अच्छाई का प्रस्फुटन हो सकता है। किसी भी प्रकार की आस्था और विश्वास की मिट्टी में इसका पुष्पित-पल्लवित होना संभव नहीं है और न ही किसी बाध्यता के अधीन और न ही यह पुरस्कार का फल है। किसी भी प्रकार के अनुकरण या अनुसरण की स्थिति में अच्छाई अपने को प्रकट नहीं कर पाती, और जहाँ भय है वहाँ स्वभावतः इसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। व्यवहार में ही अच्छाई स्वयं को दरसाती है और इस व्यवहार का आधार है संवेदनशीलता।"[2]

अहंकार से मुक्ति प्रदान करने में :

अहंकार व्यक्ति को सीमित, भ्रष्ट एवं हिंसक बना देता है। अतः शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह भी है कि वह व्यक्ति को उसके अहंकारों से मुक्ति दिलाकर शाश्वत जीवन का अनुभव कराने में उसकी सहायता

---

1. वही, पृ० 18,
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 4,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करे। अहंकारी व्यक्ति की ऊर्जा सीमित होती है। वह अपने छोटे से घेरे में ही बँधा रहता है, अतः जो असीम और अपरिमेय है उसे कभी भी सीमित नहीं किया जा सकता और यही उसके दुःख का मूल कारण भी है। अहंकार मानव-मन द्वारा अपने संबंध में बनाई गई एक ऐसी प्रतिमा है जिसमें उसके विचार, ज्ञान, द्वन्द्वों एवं कष्टों का सुखद एवं दुःखद अनुभव, धारणाएँ, स्मृतियाँ, नाम इत्यादि सभी कुछ सम्मिलित है। यही अहंकार हमारे "मैं" का बोध कराता है। यही हमारा "स्व" है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"शिक्षा से हमारा सरोकार जिस बात से है वह है मन को "मैं" से मुक्त करना। हमारा कार्य एक ऐसी नयी पीढ़ी को जन्म देना है, जो उस सीमित ऊर्जा से मुक्त हो जिसे "मैं" कहा जाता है।"[1]

मासूम विश्वास उत्पन्न करना :

विभिन्न समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अपने धर्म, संस्कृति एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलग-अलग प्रकार के विश्वास होते हैं। ये विश्वास अहंकार पर आधारित होते हैं, जो दूसरे समाज के व्यक्तियों के अहंकारों से भिन्न होते हैं। यही विश्वास जन्य अहंकार समाज में हिंसा, घृणा, द्वन्द्व एवं युद्धों को जन्म देते हैं। यदि बालक को उचित शिक्षा दी जाय तो ऐसे सीमित घेरे से उसे निकलने में सहायता मिलेगी और उसमें एक ऐसा अहंकार-शून्य मासूम विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है जो समाज की संपूर्ण बुराइयों को समूल नष्ट करने में सहायक होगा। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"आपको समाज के ढाँचे के अनुकूल बनाना शिक्षा का कार्य नहीं है। बल्कि इसके विपरीत शिक्षा का कार्य है कि वह आपको इस संपूर्ण समाज-रचना को गहराई व समग्रता से भली-भाँति समझने में सहायता करे ताकि आप सामाजिक घेरे से मुक्त होकर एक ऐसी इकाई बन सकें जो इस अहंकार पूर्ण विश्वास से परे हो। आप में ऐसा विश्वास तभी आ सकता है जब आप सचमुच बच्चे की भाँति मासूम हों, अतः

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 37,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप जहाँ तक समुचित रूप से शिक्षित नहीं किए जाते हैं, जहाँ तक आप में अद्भुत "मासूम विश्वास" नहीं आ जाता है, वहाँ तक अनिवार्यतः समुदाय आपको निगलता रहेगा, उदासीनता आपको नष्ट करती रहेगी।"[1]

सौन्दर्य बोध में सहयोग करना :

सौन्दर्य बोध हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। परन्तु सामान्यतया हम अपने विचारों, धारणाओं, परम्पराओं तथा आदतों के अनुरूप जीवन को जीये चले जाते हैं। हम अपने तथाकथित अहंकार अर्थात् "स्व" के कारण समष्टि में व्याप्त सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाते, यह "स्व" ही हमारे तथा सौन्दर्य के बीच बाधा डालता है। "स्व" अर्थात् अहंकार से मुक्त व्यक्ति ही सौन्दर्य-बोध कर सकता है। शिक्षा का यह भी उद्देश्य है कि यह समष्टि में व्याप्त सौन्दर्य का अनुभव कराने में हमारा सहयोग करे। सौन्दर्य एक निरहंकारिक घटना है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"जब "स्व" नहीं होता तो सौन्दर्य होता है। जहाँ आप अपनी समस्याओं, जिम्मेदारियों, अपनी परम्पराओं और सब कूड़े-कचरे के के साथ नहीं होते तो वहाँ सौन्दर्य है।"[2]

वास्तविक सौन्दर्य एक आन्तरिक घटना होती है। इस घटना का अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जिसके हृदय में करुणा एवं प्रेम हो। किसी भी सुन्दर वस्तु के प्रति बिना किसी अवरोध के जब हमारा हृदय उससे संवादित होता है, तब हम निश्चित रूप से अखण्ड आनन्द का अनुभव करते हैं। जीवन में ऐसे आनन्द का बड़ा महत्त्व है। जब तक हमारा जीवन अत्यंत छिछला और सतही बना रहेगा तब तक सौन्दर्य बोध का अनुभव हो ही नहीं सकता, भले ही कोई व्यक्ति महान सौन्दर्य से सर्वदा घिरा ही क्यों न हो। कृष्णमूर्ति जी का मानना है :—

"आन्तरिक सौन्दर्य के अन्वेषण में जिसकी अनुपस्थिति में हमारे

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 87,
2. परिसंवाद, अंक 2, पृ० 7,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाहरी रूप और कार्यों का बहुत ही क्षुद्र अर्थ है, सहयोग देना सही शिक्षा का प्रमुख कार्य है, और इस सौन्दर्य की गहरी अनुभूति आप के जीवन का एक विशेष अंग है।"[1]

शरीर, मन एवं हृदय के बीच सामंजस्य स्थापित करना :

वर्तमान शिक्षा समाज के लिए मात्र जीविको पार्जन का साधन बनती जा रही है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति येन-केन प्रकारेण धन-सग्रह करने में लगा हुआ है। इस प्रकार से धनोपार्जन करने वाले व्यक्तियों के शरीर, मन एवं हृदय कठोर हो जाते हैं और उनकी संवेदन शीलता मर जाती है। वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह बालक को धन की महत्ता एवं उसकी सीमाओं का प्रारंभ से ही बोध कराने का प्रयास करे। जिससे वह अपने शरीर, मन एवं हृदय को जटिल, कठोर एवं खण्डित न होने दे, अपितु उनके बीच एक समरस एवं संगीतिक सामंजस्य बना रहे।

"मनुष्य का प्रस्फुटित होना क्या है ? यह प्रस्फुटन हमारे मन, हमारे हृदय हमारे शारीरिक कल्याण का समग्र उद्घाटन और विकास है। इसका अर्थ है उनके बीच बिना किसी विरोध या विसंगति के पूर्ण संगति और सामंजस्य में जीना।"[2]

स्वयं को आलोकित करने में सहायता करना :

शिक्षा का प्रारंभ गुरु, शिक्षक या मार्ग दर्शक से ही होता है, अतः शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। शिक्षक की महत्त्व-पूर्ण भूमिका के कारण ही संतों, महात्माओं और पथ-प्रदर्शकों ने गुरु की बड़ी महिमा गायी है। परन्तु कृष्णमूर्ति जी एक सीमा तक ही गुरू की भूमिका मानते हैं। यदि गुरू उस सीमा से आगे बढ़ जाता है तो वही गुरु शिष्य के लिए बंधन निर्मित कर देता है। संपूर्ण मुक्ति के लिए गुरु का बंधन एक प्रकार की परतंत्रता है, क्योंकि गुरूओं के बिना हम अपने को दिशाहीन पाते हैं और ऐसा मानते हैं कि गुरु ही

1. संस्कृति का प्रश्न पृ० 158,
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 2,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे पथ को आलोकित करता है। वास्तविक गुरु वह होता है जो अपने को आलोकित करता है। वास्तविक गुरु वह होता है जो अपने को भी शिष्य से दूर कर लेता और बुद्ध की भाँति यही कहता है कि "अप्य दीपो भव" अर्थात् अपने दीये स्वयं बनो, अपना आलोक स्वयं बनो। कब तक कोई गुरु तुम्हारे पथ को आलोकित करता रहेगा। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी सदा गुरुओं का विरोध किया करते हैं। वे गुरु को कोई महत्त्व ही नहीं देते हैं। उनका कहना है कि—

"सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि आप अपने लिए स्वयं प्रकाश बनें। स्वयं अपने गुरु और स्वयं अपने शिष्य बनें।"[1]

स्पष्ट है कि वास्तविक शिक्षा वह है जो व्यक्ति को स्वयं अपना आलोक बनने में उसकी सहायता करती है।

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 43–44,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

शिक्षा के कार्य

शिक्षा तथा शिक्षा जगत् से संबंधित लोगों के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं, जो एक नूतन संस्कृति एवं एक नूतन समाज की रचना के लिए आवश्यक हैं। इन्हीं कार्य के आधार पर समाज में मौलिक परिवर्तन किया जा सकता है।

शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों को शिक्षित करती है :

शिक्षा व्यक्ति एवं समाज दोनों की मेरुदण्ड होती है। यदि बालक को उचित ढंग से शिक्षित किया जाय तो उनसे निर्मित समाज में होने वाली बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं। यदि समाज के प्रत्येक बालक की मेधा का उचित ढंग से विकास किया जाय तो उससे एक नवीन समाज की रचना हो सकती है। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि विश्व में फैली वर्तमान शिक्षा पद्धतियों से एक नूतन विश्व की रचना नहीं हो सकती। विश्व में फैली नाना प्रकार की बुराइयों की जड़में वर्तमान शिक्षा पद्धति उत्तरदायी है। इसका मूल कारण यह है कि वर्तमान शिक्षा महत्त्वाकांक्षा एवं प्रतिस्पर्धा पर आधारित है जिसके कारण समाज में हर प्रकार का शोषण हो रहा है और इसी से सारे विश्व में हत्या, व्यभिचार, हिंसा तथा अन्य नाना प्रकार की बुराइयाँ पनप रही हैं। जब तक हमारा समाज इस प्रकार से संस्कारित करने वाली शिक्षा से मुक्त नहीं होता, तब तक नवीन समाज की संरचना असंभव है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से वास्तविक अर्थों में प्रेम करें तथा सुख एवं शांति का जीवन व्यतीत करने में एक दूसरे की सहायता करे।

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि वास्तविक शिक्षा, विद्यार्थियों के साथ-साथ शिक्षकों एवं अभिभावकों को भी शिक्षित करने में गहरी रुचि रखती है, क्योंकि हमारे अभिभावक यदि ऐसा मान लेंगे कि मनुष्य

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वभाव कभी नहीं बदल सकता तो हम शिक्षा में कभी भी क्रान्ति नहीं कर सकते। यदि हम इस पर गहराई से विचार करें तो निश्चित रूप से व्यक्ति अप्रतिबद्ध, संस्कारमुक्त एवं बेशर्त बन सकता है। माना कि समाज में बहुत सी बुराइयाँ व्याप्त हैं, लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। निश्चित रूप से शिक्षा का कार्य दोहरा है, एक तरफ वह संस्कारगत बुराइयों का उपचार करती है तो दूसरी ओर उससे बचाव भी करती रहती है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"वास्तविक शिक्षा आपको केवल संस्कारमुक्त होने में ही सहयोग नहीं देती है, अपितु वह आपको आपके दैनंदिनी जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझाने में भी मदद करती है ताकि आप स्वतंत्रता के साथ बढ़ सकें और नूतन विश्व का निर्माण कर सकें—एक ऐसा विश्व जो वर्तमान विश्व से बिल्कुल ही भिन्न हो। दुर्भाग्य से न तो आपके शिक्षक न आपके माता-पिता और न ही सर्वसाधारण व्यक्ति इन विषयों में दिलचस्पी लेते हैं। इसीलिए शिक्षा—शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों को शिक्षित करने की प्रक्रिया होनी चाहिए।"[1]

शिक्षा स्वामित्वपूर्ण समाज से मुक्त करती है :

मानव-मानव के बीच का संबंध ही समाज है। यदि आज का समाज दूषित हो गया है तो इसका कुल अर्थ इतना ही है कि मनुष्य का मनुष्य से संबंध ही दूषित हो गया है, जिसके लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हम लोग ही जिम्मेवार हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में पद, प्रतिष्ठा, शक्ति एवं सम्पत्ति का अधिकार चाहता है। चूंकि ऐसा सभी लोग चाहते हैं, इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए लोगों के बीच बड़ी प्रतिस्पर्धा है। स्वामित्व प्राप्त करने की इस प्रक्रिया में हिंसा, अलगाववाद, आतंकवाद एवं अंततोगत्वा युद्धों के जन्म होते हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि दुर्भाग्यवश आज की शिक्षा का यही प्रयोजन रह गया है कि वह आपको इस स्वामित्वपूर्ण समाज की मान्यताओं के अनुरूप शिक्षित करे। आपके अभिभावक,

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 21.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षक और मान्यता प्राप्त सरकारें भी इसी प्रकार की शिक्षा की मान्यता दिये जा रही हैं। आपका कहना है :—

"शिक्षा का वास्तविक कार्य यह नहीं है कि वह आपको लिपिक या न्यायाधीश या प्रधानमंत्री बना दे, अपितु इसका कार्य है आपको इस सड़े हुए समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को समझने में और स्वतंत्रा के साथ बढ़ने में सहयोग करना ताकि आप इस समाज से मुक्त हो सकें और एक नूतन समाज एवं नूतन विश्व का निर्माण कर सकें। एक ऐसा विश्व जो अधिकार, शक्ति और प्रतिष्ठा पर आधारित न हो।"[1]

शिक्षा प्रज्ञापूर्ण बृहत् सम्बन्ध को सिखाती है :

मात्र बौद्धिक ज्ञान एक प्रकार का अज्ञान है और मात्र तथ्यों का ज्ञान हमारी मानवीय समस्याओं को हल नहीं कर सकता। इस तथ्य की समझ से ही प्रज्ञा का आरम्भ होता है। प्रज्ञावान व्यक्ति ही ज्ञान का सही-सही उपयोग कर सकता है अन्यथा ज्ञान एक खतरनाक वस्तु है। अस्तित्व के साथ हमारे क्या सम्बन्ध हैं इसे समझना भी शिक्षा का ही कार्य है, क्यों इस बृहत् सम्बन्ध की प्रज्ञापूर्ण जानकारी के अभाव में आज हम अपने पर्यावरण को दूषित करते जा रहे हैं। जल, हवा एवं मृदा की अशुद्धता, पशु-पक्षियों के प्रति हमारा क्रूरतापूर्ण व्यवहार भी बृहत् सम्बन्धों की अज्ञान का परिचायक है। बृहत् सम्बन्धों का ज्ञान न तो पुस्तकें ही करा सकती हैं न ही उसे सिखाया ही जा सकता है। यह तो प्रकृति के साथ आन्तरिक सुसंवादों के फलस्वरूप प्राप्त बोध एवं प्रज्ञा से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"जब शिक्षक और शिक्षार्थी परस्पर संबंधों के असाधारण महत्व को वस्तुतः समझने में जुटे होते हैं, तब वे स्कूल में अपने बीच एक सही और सच्चे संबंध को स्थापित कर रहे हैं। यह शिक्षा का ही अंग है, बल्कि यह मात्र शैक्षिक विषयों को पढ़ाने से कहीं बड़ी चीज है।"[2]

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 21.
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा समग्र उत्तरदायित्व का बोध कराती है :

"उत्तरदायित्व" शब्द "उत्तर देना" से बना है, जिसका अर्थ होता है अपनी पृष्ठभूमि एवं संस्कारों की ओर लौटना। स्पष्ट है कि साधारणतया उत्तरदायित्व, व्यक्ति के संस्कारों जिसमें देश, धर्म, अंधविश्वास, राष्ट्रवाद, वैज्ञानिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों आदि के समुच्चय का परिणाम है, जो सदा सीमित होता है। वर्तमान समय में सभी राष्ट्र अपनी सीमा सुरक्षा के नाम पर अरबों रुपये घातक युद्ध सामग्रियों पर व्यय कर रहे हैं और बात शांति की, की जा रही है। धर्म के नाम पर भी विभाजन जारी है। अपनी तुष्टि के लिए हम पृथ्वी की सम्पदा, पर्यावरण और सौन्दर्य को जिस प्रकार नष्ट कर रहे हैं, उससे सम्पूर्ण मानव जाति एवं जीवन को ही खतरा पैदा हो गया है। यदि समय रहते हम इस सत्यता को गहराई से अनुभव नहीं कर लेते तो समग्र उत्तरदायित्व की बात करना निरर्थक होगा।

अतः शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह बालक में ससीम नहीं अपितु असीम अर्थात् समग्र उत्तरदायित्व का बोध कराने में उसकी सहायता करें। सामान्यतया हमारी शिक्षा अपने परिवार, जाति, देश या धर्म आदि के प्रति ही उत्तरदायी होना सिखाती है। ऐसा उत्तरदायित्व एक प्रकार का अनुत्तरदायित्व ही है, क्योंकि जब तक हमें समग्र रूप में समष्टि के प्रति उत्तरदायी होने का अवबोध नहीं होता, तब तक हम "उत्तरदायित्व" शब्द को उसके अपने पूरे अभिप्राय में नहीं समझ सकते। कृष्णमूर्ति कहते हैं :—

"एक मानव मनोवैज्ञानिक तल पर सम्पूर्ण मनुष्य जाति है। वह मूलतः मनुष्य जाति का सम्पूर्ण मानस और उसकी आत्मा है। अगर कोई ध्यानपूर्वक मनोवैज्ञानिक ढाँचे का अवलोकन करे तो वह पायेगा कि जैसे वह दुःख भोगता है, वैसे ही पूरी मनुष्य जाति विभिन्न मात्राओं में दुःख भोगती है। दुःख, यंत्रणा, ईर्ष्या, द्वेष और भय सबका अनुभव है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप से आन्तरिक रूप से, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे मनुष्य जैसा ही है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक तल पर आप ही संसार हैं; आप सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए उत्तरदायी हैं, न कि एक पृथक् मानव के रूप में केवल अपने लिए जो कि एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिक भ्रांति है। व्यक्ति को इस उत्तरदायित्व की कला सीखनी है।"[1]

शिक्षा परम्पराओं से मुक्त धार्मिक भावना एवं वैज्ञानिक मन का सृजन करती है :

शिक्षा का कार्य दोहरा है। एक ओर तो वह विद्यार्थियों को विविध क्षेत्रों में मानव के महान् प्रयत्नों से प्राप्त विशाल ज्ञान के भण्डारों की जानकारी देना तो दूसरी ओर उसके मन को उस ज्ञान से बनने वाली परम्पराओं के बोझ से मुक्त करना है, ताकि वह आविष्कार करने, खोज करने तथा अनुसंधान करने में समर्थ हो सके, अन्यथा हमारा मन केवल तकनीकी ज्ञान से बोझिल होकर यंत्रवत बनकर न रह जाएगा। ज्ञान का उपयोग जब प्रज्ञा के द्वारा होता है, तो वह ज्ञान कल्याणकारी होता है। इसके लिए मन की केवल दो अवस्थाएँ ही सार्थक एवं महत्वपूर्ण हैं। एक है सच्ची धार्मिक भावना और दूसरा है सच्चा वैज्ञानिक मन। सच्चा धार्मिक मन वाला व्यक्ति किसी सम्प्रदाय, वर्ग, क्रिया-काण्ड एवं रूढ़िवादिता का पोषक नहीं होता अपितु वह पूर्णतया अकेला, अप्रतिबद्ध और विस्फोटक होता है। वह नवीन तरुण ताजा एवं अनन्त होता है। ऐसा मन अद्भुत रूप से नमनीय एवं सूक्ष्म होता है, ऐसा मन ही इस अपरिमेय का अनुभव कर सकता है जिसे सत्य या ईश्वर कहा जाता है। सच्चे वैज्ञानिक मन वाला व्यक्ति बड़ा ही तथ्यनिष्ठ होता है, अन्वेषण ही उसकी दृष्टि एवं ध्येय होता है, वह प्रत्येक वस्तु को उसी रूप में देखने का प्रयास करता है जिस रूप में वास्तव में वह है। पूर्वाग्रह से मुक्त होने के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"सच्चा ब्राह्मण वही है जो वैज्ञानिक तथा धार्मिक मन दोनों को मिलाता है और अपने अन्दर बिना किसी अन्तर्विरोध के सामंजस्यपूर्ण है। वही नया मानव है और मेरे विचार से शिक्षा का प्रयोजन इसी नवीन मन का सृजन करना है, जो कि विस्फोटक होता है और जो समाज द्वारा स्थापित प्रारूप के अनुरूप नहीं बनता।"[2]

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 18.
2. शिक्षा संवाद, पृ० 10.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा असंतोष, सहज स्फूर्ति तथा सृजन को प्रेरित करती है :

सामान्य शिक्षा हमें संतुष्ट होने के लिए प्रेरित करती है। हमारे माता-पिता, शिक्षक एवं धर्मगुरु सभी संतोष का पाठ पढ़ाते हैं, परन्तु कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि बालक में जब गहरा असंतोष होता है तो उसमें सहज स्फूर्ति आ जाती है और स्फूर्ति ही सृजनता की जड़ है। अतः शिक्षक एवं शिक्षा जगत् से जुड़े लोगों को चाहिए कि बालक को कभी संतुष्ट होने न दें, उसे सदा प्रेरित करते हैं कि वह और आगे बढ़कर खोज करे क्योंकि खोज का कोई अंत नहीं होता। असंतोष हमारा स्वभाव है लेकिन जैसे-जैसे हम वयस्क होते जाते हैं, हम उस असंतोष को कई परतों में छिपाये रखते हैं, यद्यपि कि हमारे कृत्य उसे छिपने नहीं देते। यह असंतोष ही है जो हमें एक मंदिर से दूसरे मंदिर, एक गुरु से दूसरे गुरु की तलाश में हमें भटकाता रहता है, क्योंकि हम वास्तव में कहीं भी संतुष्ट नहीं होते। वास्तव में हम असंतुष्ट हैं इसकी पहचान होने पर ही खोज आरम्भ होती है। यदि हम क्षुब्ध न हो जाँय तो यह गहन असंतोष हमें खोज के लिए स्फूर्ति प्रदान करता है जो एक प्रकार की प्रेरणा है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"ज्योंही कोई असंतुष्ट हो जाता है, खोज आरम्भ कर देता है, प्रश्न करने लगता है त्योंही वह अनिवार्यतः क्षुब्ध हो जाता है। लेकिन यह असंतोष ही एकमात्र ऐसी वस्तु है जिसके माध्यम से हममें सहज स्फूर्ति आती है। सृजनता की अपनी जड़ें स्फूर्ति में रहती हैं और यह स्फूर्ति तभी उद्घाटित होती है, जहाँ गहरा असंतोष है।"[1]

शिक्षा सचेतनता एवं उद्यमिता का विकास करती है :

हमारे जीवन का अधिकांश समय असावधानी एवं उपेक्षा में ही व्यतीत हो जाता है। हम बहुत कम क्षणों में ही सचेत एवं उद्यमी हो पाते हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि शिक्षा से संबंधित लोगों को इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि बालक में सचेतनता एवं

---

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्यमिता का विकास हो तथा असावधानी एवं उपेक्षा की भावना न पनपने पाये। उद्यम और सचेतनता का अर्थ है सावधानी, सजगता, अवलोकन और स्वतंत्रता का एक गहरा बोध। किसी व्यक्ति, वस्तु या सिद्धान्त के प्रति भक्ति इस स्वतंत्रता को नकारती है। उद्यम और सचेतनता वह होश और ध्यान है जो सहज रूप से असीम सावधानी, सरोकार और स्नेह की ताजगी को जन्म देता है। यह तभी संभव है जब हम गहन संवेदनशीलता एवं समग्र उत्तरदायित्व की स्थिति में होते हैं। उद्यमी मन के लक्षण को स्पष्ट हुए आपका कहना है कि :—

"एक उद्यमी मन का लक्षण है कि जैसे ही कोई समस्या उत्पन्न होती है, वह उनका सामना करता है, उसकी प्रकृति का अवलोकन करता है, और तत्काल उसका समाधान करता है। जब आप किसी समस्या के उत्पन्न होते ही उसे हल कर लेंगे तो आप पाएँगे कि समस्याओं का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।"[1]

शिक्षा सीखने की कला सिखाती है :

जीवन की प्रत्येक गतिविधि सीखने की प्रक्रिया है क्योंकि हम अपनी प्रत्येक क्रियाओं से कुछ न कुछ सीखते रहते हैं। सीखने का अर्थ है शुद्ध "अवलोकन", जो बाह्य और अभ्यंतर में हर क्षण घटित हो रहा है। यह अवलोकन कर्त्ता की अनुपस्थिति में ही संभव होता है, क्योंकि अवलोकन कर्त्ता (अहंकार) हमारे मन को यांत्रिक बना देता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि विद्यालय एक ऐसी जगह होनी चाहिए जहाँ विद्यार्थी मूल रूप से प्रसन्न और आनन्दित हो, जहाँ उसे डराया-धमकाया नहीं जाता, जहाँ वह परीक्षाओं के लिए भयभीत नहीं किया जाता, और जहाँ उसे एक ढाँचा या पद्धति के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता। यह वह जगह है जहाँ सीखने की कला सिखायी जाती है। अगर विद्यार्थी प्रसन्न और आनन्दित नहीं है तो वह इस कला को नहीं सीख सकता। सीखने की कला को स्पष्ट करते हुए आपका कहना है कि :—

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 29,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सीखने की कला का अर्थ है जानकारी को सही स्थान देना तथा जो सीखा गया है, उसका दक्षता पूर्वक उपयोग करना, लेकिन साथ-साथ मनोवैज्ञानिक तल पर ज्ञान की सीमाओं में बँध नहीं जाना और न ही उन प्रतिमाओं और प्रतीकों से बँध जाना जिन्हें विचार निर्मित करता है। "कला" का अर्थ है हर चीज को अपने सही स्थान पर रखना।"[1]

शिक्षा स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करती है :

स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि आप को जो पसन्द हो वही करने के लिए आप मुक्त हैं। यदि कोई ऐसा करना भी चाहे तो यह पूर्ण रूप से कभी संभव भी नहीं हो सकता। हर आदमी की अपनी-अपनी पसंद पर चलने की जो कोशिश है, अर्थात् व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जिसका अर्थ है अपनी इच्छानुसार किसी क्रिया की दिशा और मार्ग का चुनाव करना। इससे तो विश्व में सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था ही फैलेगी, अराजकता का बोलबाला हो जाएगा, लोगों का जीना दूभर हो जाएगा। स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है। स्वतंत्रता या मुक्ति एक अत्यंत जटिल मामला है। हमको इसका सामना अत्यंत ध्यानपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि मुक्ति किसी बंधन का विपरीत नहीं है, और न ही यह परिस्थितियों के उस जाल से पलायन है जिनमें हम उलझे हुए हैं। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

जिस मुक्ति की हम बात करते हैं, वह किसी चीज से मुक्ति नहीं है या वह किसी बाध्यता और विवशता का निवारण नहीं है। मुक्ति का विपरीत नहीं होता, यह स्वभावतः अपने आप है अर्थात् इसका अस्तित्व स्वतः है। मुक्ति की प्रकृति की समझ ही बोध और प्रज्ञा का जागरण है। जो है, उसके साथ स्वयं का सामंजस्य और तालमेल मुक्ति नहीं है, बल्कि जो है उसको समझना और उसके पार चले जाना ही मुक्ति है।"[2]

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 31,
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 31,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा परम्परा एवं आदत की व्यर्थता का बोध कराती है :

परम्परा और आदत को उसके ठीक अर्थों में समझना एवं उसकी व्यर्थता की सीमा का बोध कराना, यह शिक्षा का ही कार्य है। क्योंकि परम्परा एवं आदतों से निर्मित होने वाला मन हमारे विशाल जीवन को सीमित कर देता है। हम परम्पराओं तथा आदतों में फँसकर नदी के किनारे बने उस "डबरे" जैसे जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाते हैं जिसमें कोई प्रवाह नहीं होता, मात्र सड़ांध एवं दुर्गन्ध से भरा होता है। परम्परा का अर्थ होता है अतीत का सातत्य या अतीत का अनुसरण। परम्परा न अच्छी होती है न बुरी, परम्परा चाहे प्राचीन हो या आधुनिक वह केवल परम्परा होती है। भावुक एवं स्वच्छंद काल्पनिकता परम्पराओं को एक ऐसा रंग दे देती है जिससे बड़ी भ्रान्ति खड़ी हो जाती है, अंधविश्वास की यही प्रकृति है। ऐसी किसी भी चीज में रस लेना जिसका कोई अर्थ नही है, महत्त्व एवं मूल्य नहीं है, मात्र ऊर्जा की बरबादी है, जो मन को अधःपतन की ओर ले जाती है। बालक को इन तथ्यों के प्रति सजग करना शिक्षा का ही कार्य है और यह सजगता ही समस्त भ्रान्तियों का अन्त कर देती है। "आदत" का अर्थ है बार-बार दुहरायी जाने वाली वह क्रिया जो सजग न होने पर उत्पन्न होती है। आदतें मनुष्य के जीवन को यांत्रिक बना देती हैं, जो कुछ किया जाय उसके प्रति यदि होश रहे तो कोई भी व्यक्ति किसी विशेष कार्य को किसी विशेष समय पर करते हुए भी आदत का शिकार नहीं होता। सजगता, परंपरा एवं आदत दोनों को ही दूर कर देती है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"परम्परा का अर्थ है अतीत का सातत्य, और आदत का अर्थ है बार-बार दुहराई जाने वाली क्रिया जो सजग न होने से उत्पन्न होती है। सजगता आदतों को दूर कर देती है।"[1]

शिक्षा का यह भी कार्य है कि परम्पराओं एवं आदतों से जकड़े संकीर्ण जीवन को मुक्ति दिलाये तथा विशाल जीवन सरिता से एकाकार होकर अनन्त जीवन का अनुभव करने में हमारी सहायता करे।

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 40,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा मौलिक परिवर्तन एवं नूतन संस्कृति का निर्माण कर सकती है :

कृष्णमूर्ति जी का सम्पूर्ण दर्शन मौलिक परिवर्तन की आधार शिला है। वे चाहते हैं कि बालकों को प्रारंभ से इस प्रकार शिक्षित किया जाय कि समाज की परंपराएँ, रीति-रिवाज, अन्धविश्वास के साथ-साथ स्वयं के मन की गति विधियों का वह ठीक-ठीक अवलोकन कर सके। इसका परिणाम यह होगा कि उसकी दृष्टि स्पष्ट होती जाएगी और संस्कारों, आदर्शों की मिली-जुली संस्कृति से मुक्त होकर मौलिक परिवर्तन के द्वारा नूतन विश्व की रचना में सहयोग कर सकेगा। "मौलिक परिवर्तन" की अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए आपका कहना है कि :—

"मिथ्या को मिथ्या के रूप में तथा सत्य को सत्य के रूप में देखना ही मौलिक परिवर्तन है। मौलिक परिवर्तन का यह भी अर्थ है कि जो मिथ्या है उसमें सत्य क्या है, उसे भी हम देखें और इसी प्रकार जिसे अब तक सत्य स्वीकारा गया है, उसमें जो मिथ्या है, उसको भी हम देखें।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि इस विश्व में अब एक मौलिक परिवर्तन की अत्यंत आवश्यकता है। इस परिवर्तन के माध्यम से ही एक नूतन विश्व एवं नूतन संस्कृति का जन्म हो सकता है। वह नूतन संस्कृति न तो पूरब ही होगी, न ही पश्चिम की। वह एक ऐसी संस्कृति होगी जो किसी परम्परा, दार्शनिक अथवा आदर्शवादी संस्कृति की देन नहीं होगी। ऐसी संस्कृति का आगमन तभी हो सकता है जब हम सभी लोग अपने आदर्शों, परम्पराओं, संस्कार युक्त जीवन से मुक्त होकर समष्टि के प्रति प्रेम से भर जाँय। ऐसी प्रेमपूर्ण दशा में ही वास्तविक अहिंसात्मक विद्रोह हो सकेगा, जिसका उद्देश्य न तो किसी आदर्श की स्थापना करना होगा न ही किसी दार्शनिक पद्धति का अनुगमन ही। उसका तो एकमात्र उद्देश्य यही होगा कि सत्य को सत्य के रूप में तथा मिथ्या को मिथ्या के रूप में स्वीकारा जाय तथा जो वास्तविकता है, उसके अनुरूप ही हमारी जीवनशैली हो। मौलिक

---

1. प्रथम और अंतिम मुक्ति, पृ० 267.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन के लिए शिक्षा की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"वास्तविक शिक्षा आपको केवल संस्कारमुक्त होने में ही सहयोग नहीं देती, अपितु वह आपको आपके दैनन्दिन जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने में भी मदद करती है ताकि आप स्वतंत्रता के साथ बढ़ सकें और नूतन विश्व का निर्माण कर सकें—एक ऐसा विश्व जो वर्तमान विश्व से बिल्कुल ही भिन्न हो।"[1]

1. संस्कृति का प्रश्न, पृ० 21.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

शिक्षा में शिक्षण संस्थाओं की भूमिका

समग्र मानव के निर्माण के लिए शिक्षण संस्थाओं एवं इनमें कार्यरह शिक्षकों, कर्मचारियों एवं छात्रों के उत्तरदायित्व तथा उनकी सहभागिता को स्पष्ट करने के लिए कृष्णमूर्ति जी ने बहुत से पत्र लिखे है। ये सुझावी पत्र उन सभी लोगों के लिए शिक्षा के उत्थान में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं जिनकी शिक्षा के क्षेत्र में गहरी रुचि है। इन पत्रों की महत्ता को स्पष्ट करते हुए जे० कृष्णमूर्ति जी लिखते हैं "मेरी हार्दिक इच्छा है कि इन पत्रों को लिखता रहूँ ताकि उन्हें बता सकूँ कि स्कूलों को कैसा होना चाहिए, उन सभी व्यक्तियों को जिनके कंधों पर इनका उत्तरदायित्व है, उन्हें बता सकूँ कि इन स्कूलों को केवल शैक्षिक रूप से ही श्रेष्ठ नहीं होना है, बल्कि बहुत कुछ और भी। वस्तुतः इन्हें समग्र मानव के निर्माण से जुड़ना है। शिक्षा के इन केन्द्रों को चाहिए कि वे विद्यार्थी एवं शिक्षक दोनों को सहज रूप से प्रस्फुटित होने में मदद करें। यह प्रस्फुटन वस्तुतः अत्यंत आवश्यक है अन्यथा शिक्षा किसी न किसी पेशा या जीविका की ओर उन्मुख रहने वाली मात्र एक यांत्रिक प्रक्रिया बनकर रह जाती है। अभी जिस तरह का समाज है उसके अनुसार जीविका और पेशा अवश्यम्भावी है, लेकिन अगर हम सारा महत्व उसी को दे दें तो प्रस्फुटित होने की स्वतंत्रता धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगी।"[1]

वास्तविकता यह है कि आज की हमारी शिक्षा एवं शिक्षण संस्थाओं का मात्र एक ही उद्देश्य रह गया है—येन केन प्रकारेण छात्र उपाधियाँ प्राप्त कर लें और अपनी आजीविका में लग जाँय। आजीविका कमाने के अतिरिक्त अन्य सभी मानवीय गुणों का विकास करना

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके लिए गौण बात हो गई है। इस प्रकार के सामाजिक दबाव के कारण हमारी सभी शिक्षण संस्थाएँ चाहे वे साधारण विद्यालय हों, महाविद्यालय हों अथवा विश्वविद्यालय हों, माँग एवं आपूर्ति के सिद्धान्तों का पालन करने में जुड़ी हुई हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि शिक्षा में आजीविका सर्वोपरि एवं हर चीज गौण हो गई है। लेकिन सत्यता यह है कि मनुष्य केवल पैसे से ही सुखी नहीं हो सकता, उसे चाहिए स्वतंत्रता जो अपने आप में एक जटिल प्रश्न है। जब तक शिक्षण संस्थाओं में अपनी संस्कृति, अपने देश, अपने धर्म एवं अंध-विश्वासों की महिमा का झूठा गुणगान होता रहेगा, तब तक वास्तविक स्वतंत्रता आकाश-कुसुम के सदृश बनी रहेगी। जब बालक अपनी संस्कृति, अनुभव, देश, भाषा, धर्म, अंधविश्वासों, अर्जित संस्कारों, मतों एवं पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर बिना किसी विरोध या विसंगति के, अपने शरीर, मन एवं हृदय के बीच पूर्ण संगति एवं सामंजस्य स्थापित कर लेता है तो उसकी प्रज्ञा प्रस्फुटित होने लगती है, जिससे वह वास्तविक स्वतंत्रता का अनुभव करने लगता है। शिक्षण जीवन का एक महानतम पेशा है और शिक्षक के रूप में हमारा यह दायित्व होता है कि हम स्वयं तथा बालकों के हृदय जागरण में जिसका संबंध अच्छाई से है, इनकी मदद करें। हृदय-जागरण से ही प्रेम, स्नेह तथा करुणा जैसे मानवीय गुणों का जन्म होता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि बालक उचित भोजन एव व्यायाम के माध्यम से उसके शरीर एवं मन का स्वस्थ्य विकास किया जाय, जो गहरी संवेदनशीलता को जन्म देते हैं। इस प्रकार जब शरीर, मन एवं हृदय परस्पर संगति एवं सामंजस्य में होते हैं तो व्यक्ति परम मुक्ति एवं आनन्द का अनुभव करता है, जो जीवन का चरम लक्ष्य है।

सम्बन्धों के माध्यम से ही क्रिया एवं सद्व्यवहार प्रकट होता है। सम्बन्ध ही जीवन है क्योंकि हम अस्तित्व से जब तक सम्बन्धित हैं, तभी तक हम जीवित रह सकते हैं। चाहे वह संन्यासी हो, वैरागी हो, महात्यागी हो या संसारी हो, सभी के जीवन का आधार संबंध ही है। संबंध टूटते ही मृत्यु का आगमन हो जाता है। विद्यालय परिसर में भी शिक्षक तथा शिक्षार्थियों के बीच का उचित संबंध ही उन्हें आपस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मिल-जुलकर सीखने तथा प्रज्ञा जागरण में सहायता करता है। संबंधों का बृहत् महत्व तो हम विद्यालय से ही सीखना आरम्भ कर देते हैं। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"निश्चय ही एक स्कूल का यही अर्थ है कि वह विद्यार्थी को अपनी प्रज्ञा जगाने में तथा संबंधों के बृहत् महत्व को सीखने में सहायता करता है।"[1]

भय की सीमाओं में अच्छाई का प्रस्फुटन नहीं होता। अतः शिक्षण संस्थाओं में कार्य करने वाले वे सभी लोग जो विद्यार्थियों के लिए किसी न किसी प्रकार के उत्तरदायित्व का वहन करते हैं, चाहे वे कक्षा में हों, खेल के मैदान में हों या छात्रावास में, उन सबका यह दायित्व है कि वे सदैव इस बात का ध्यान रक्खें कि भय किसी भी रूप में पैदा न होने पाये। क्योंकि किसी भी प्रकार का भय मन को पंगु कर देता है तथा चेतना एवं इन्द्रिय संवेदनशीलता को संकुचित कर देता है। भय से विभिन्न प्रकार के अंधविश्वास चाहे वे धार्मिक हों, वैज्ञानिक हों, अथवा काल्पनिक हों, जन्म लेते हैं और व्यक्ति जीवन-भर काल्पनिक एवं झूठमूठ की दुनियाँ में जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाता है।

शिक्षा केन्द्रों का यह कार्य है कि वह मानव को श्रेष्ठता एवं भव्यता से भरा दैनिक जीवन जीने में उसकी सहायता करे। यह तभी संभव होगा, जब चेतना के सम्पूर्ण स्तरों से भय का समापन हो जाय। भय की जटिलता को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"भय एक अत्यंत जटिल व्यापार का विषय है। इतना प्राचीन जितनी प्राचीन पहाड़ियाँ हैं, इतना प्राचीन जितनी प्राचीन मानव जाति है और इस भय के पास कहने के लिए एक अत्यंत असाधारण और अद्भुत कहानी है। लेकिन इसे सुनने की कला आपके पास होनी चाहिए और इसमें सुनने में महान् सौन्दर्य छिपा है। तब केवल सुनना ही बच जाता है, कहानी नहीं बचती।"[2]

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 9.
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंधकार कितना ही पुराना क्यों न हो, एक छोटा-सा दीपक उस सदियों पुराने अंधकार को क्षणभर में ही समाप्त कर देता है। ठीक उसी प्रकार बोध का, प्रज्ञा का, होश का एक नन्हा-सा स्रोत अति-प्राचीन भय को मानव मन से सदा के लिए मिटा सकने की सामर्थ्य रखता है। जिस प्रकार अंधकार से लड़कर उसे जीता नहीं जा सकता, उसी प्रकार भय भी किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व से दूर नहीं किया जा सकता।

शिक्षण संस्थाओं में कार्य करने वाले लोगों का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वे विद्यार्थियों को उनकी आजीविका के लिए शैक्षिक विषयों की जानकारी देने के साथ-साथ उनमें सम्पूर्ण मानव जाति एवं जीवन के लिए उत्तरदायित्व का बृहत् बोध जगाएँ। यदि यह दोनों कार्य साथ-साथ नहीं होंगे तो विद्यार्थियों के जीवन में अन्त-विरोध पैदा हो जाएगा, उसकी चेतना विभाजित हो जाएगी और वह घर तथा बाहर विभिन्न प्रकार के मुखौटे लगाकर द्वन्द्वात्मक जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाएगा। समग्र उत्तरदायित्व का बोध तभी होगा, जब हमारे क्रिया-कलाप संस्कारबद्ध संचित ज्ञान के विशाल बोझ से प्रभावित न होकर शुद्ध अवलोकन की अवस्था में होंगे। शुद्ध अवलोकन की अवस्था में ही सीखना घटित होता है, जो अवलोकन-कर्त्ता की अनुपस्थिति में ही सम्भव है। अवलोकनकर्त्ता जो हमारे ज्ञान, स्मृतियों एवं संस्कारों का समुच्चय होता है, जिसे हम "स्व" "अहंकार" भी कहते हैं, मन को अधिकाधिक यांत्रिक बना देता है। यह यांत्रिक मन किसी न किसी रूप में हर क्षण व्यस्त रहता है, इसमें किसी प्रकार का अवकाश नहीं होता। अवकाश शब्द का अर्थ है, वह अवधि जब मन किसी भी चीज में व्यस्त नहीं होता। अव्यस्त मन ही शुद्ध अवलोकन कर सकता है। एक मुक्त अवलोकन का अर्थ है सीखने का वह प्रवाह जो मन को उसकी यांत्रिकता से मुक्त कर देता है। समग्र उत्तरदायित्व की आवश्यकता एवं उसकी गम्भीरता को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"हम यह बात बिल्कुल निश्चित रूप से और बहुत जोर देकर कह रहे हैं कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति समग्र उत्तरदायित्व, जो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम है, वही केवल समाज की मौजूदा स्थिति को बुनियादी रूप से बदल सकता है।"[1]

शिक्षा से सम्बन्धित लोगों को दो बातों का हर समय ध्यान रखना चाहिए। एक तो सचेतनता और उद्यम तथा दूसरा है असावधानी और उपेक्षा। सचेतनता का अर्थ है सावधानी, सजगता, अवलोकन और स्वतंत्रता का एक गहरा बोध। उद्यम और सचेतनता वह होश और ध्यान है जो सहज रूप से असीम, सावधानी, सरोकार और स्नेह की ताजगी को जन्म देता है। यह एक ऐसी संवेदनशीलता है जिसका जन्म तब होता है। जहाँ समग्र उत्तरदायित्व अर्थात् प्रेम है, उद्यम और सचेतनता के पास यह गुणवत्ता विद्यमान होती है।

असावधानी का अर्थ है उदासीनता और शिथिलता। इस अवस्था में मन मन्द, सुस्त एवं कठोर हो जाता है, विचार की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है, अवलोकन की तीव्रता समाप्त हो जाती है तथा संवेदनशीलता समझ के बाहर की चीज हो जाती है। असावधानी एवं उपेक्षा की इसी अवस्था में हमारा अधिकांश समय व्यतीत होता है। हमारी वर्तमान शिक्षा हमें असावधानी एवं उपेक्षापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती है। अतः शिक्षण संस्थाओं में कार्य करनेवाले लोगों का यह पूर्ण उत्तरदायित्व है कि वह स्वयं में तथा छात्रों में सचेतनता एवं उद्यमिता के पुष्प को प्रस्फुटित होने में उनकी हृदय से सहायता करें तथा असावधानी एवं उपेक्षा की मनःस्थिति को पनपने में अपने क्रिया-कलाप द्वारा उसका सहयोग कदापि न करें। सचेतन एवं उद्यमी मन तत्काल ही समस्याओं का समाधान ढूँढ़ लेने की क्षमता रखता है और अपने प्राण एवं ऊर्जा को अपव्यय होने से बचा लेता है। सचेत एवं उद्यमी मन की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी एक पत्र में लिखते हैं कि :—

"वह मन जो उद्यमी और सचेत है, उसके पास कोई आदत नहीं होती, उसके पास प्रतिक्रिया और उत्तर का कोई बना बनाया ढाँचा नहीं होता। ऐसा मन एक अनन्त प्रवाह है, जो कभी किसी आदत के

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 24.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ नहीं जुड़ता, जो कभी निष्कर्षों के साथ नहीं बँधता। यह प्रवाह तब एक अनंत गहराई और विस्तार को छू लेता है। जब यह उन सीमाओं से मुक्त हो जाता है जो विचार द्वारा बरती गयी उपेक्षा के कारण निर्मित होता है।"[1]

आजकल हमारी शिक्षण संस्थाओं का वातावरण न्यूनाधिक मात्रा में इतना अव्यवस्थित, अप्रेमपूर्ण तथा भयावह हो गया है कि वहाँ बच्चा जाने से कतराता है। उसे नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं तथा उसे हर तरह से प्रताड़ित भी किया जाता है। परीक्षाओं के नाम पर उसे विभिन्न प्रकार से भयभीत किया जाता है। भयभीत मन सीखने की क्षमता समाप्त कर देता है और विद्यालय उसे प्रसन्नता एवं आनन्द के वातावरण में सीखने की कला सिखाने के बजाय यातना केन्द्रों के रूप में लगने लगता है। शिक्षण संस्थाओं का वातावरण कैसा होना चाहिए, इसकी चर्चा करते हुए आपका कहना है कि :—

"एक स्कूल का अर्थ ही है वह जगह जहाँ विद्यार्थी मूल रूप से प्रसन्न एवं आनन्दित है, जहाँ उसे डराया-धमकाया नहीं जाता, वह परीक्षाओं से भयभीत नहीं है, तथा जहाँ उसे एक ढाँचा या एक पद्धति के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता। यह जगह है जहाँ सीखने की कला सिखायी जा रही है। अगर विद्यार्थी प्रसन्न एवं आनन्दित नहीं है, तो वह इस कला को सीखने में असमर्थ है।"[2]

आदर्श सत्ता एवं तुलना मन को भ्रष्ट कर देती है। जहाँ एक ओर आदर्श तथ्य एवं वास्तविकता से पलायित होने को प्रेरित करता है, तो दूसरी ओर "सत्ता" जो अनुकरण तथा आज्ञाकारी होना सिखाती है, व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं मुक्ति को न कारती है। सर्व सत्तावाद चाहे वह गुरु की सत्ता हो या मुक्तिदाता की सत्ता हो, सभी भ्रष्टता के अत्यंत विनाशकारी तत्त्वों में से एक है। तुलना भी एक विनाशकारी प्रवृत्ति है, क्योंकि एक विद्यार्थी की दूसरे से तुलना करने

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 28.
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 31,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उनमें हीन भावना का जन्म होता है, जो दोनों के लिए हानिकारक है। विश्व में फैली सभीं शिक्षण संस्थाओं में कुछ न कुछ अपने आदर्श होते हैं और अपनी सत्ता के बल पर वे इन आदर्शों को छात्रों पर थोपने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार भ्रष्टता में ही विद्यार्थियों को शिक्षित करते हैं। जिस प्रकार किसी पुष्प का प्रस्फुटन किसी प्रकार के दबाव में सहजता एवं सरलता से नहीं हो सकता, उसी प्रकार बालक की प्रज्ञा का प्रस्फुटन आदर्श सत्ता एवं तुलना के दबाव में सहजता से नहीं किया जा सकता। विद्यार्थियों की सहज प्रज्ञा के प्रस्फुटन में शिक्षण संस्थाओं एवं उनमें कार्यरत शिक्षकों तथा कर्मचारियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका की चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"यह एक सच्चे शिक्षक का कार्य है कि वह सत्ता के भ्रष्ट प्रभाव से मुक्त होकर शिक्षण कार्य करे; पढ़ाने बताने और सिखाने का कार्य करे। तुलना की सत्ता विनाश कारी है। जब एक विद्यार्थी की तुलना दूसरे से की जाय तो याद रक्खें कि दोनों को हानि पहुँचायी जा रही है। तुलना के बिना जीने का अर्थ है अखण्डता उपलब्ध करना।"[1]

हमारा मन अनंत ऊर्जा की संभावनाओं का स्रोत है। परन्तु परंपरा, आदत, अनुभव एवं धार्मिक संस्कारों आदि से निर्मित मन अपने अहंकार एवं कल्पनाओं के जगत् में जीने लगता है और इस प्रकार मन को भ्रष्ट कर देता है। हमारे मन में इस प्रकार से प्रतिमा निर्माण की क्रिया अनवरत चलती रहती है जो "मैं" को जन्म देती है। यह "मैं" यानी अहंकार हमारे मन की अनंत ऊर्जा को सीमित कर देता है। संस्कारित मन जीवन ऊर्जा को सीमित कर देता है। जो असीम है उसे सीमित कर देने से बड़ा कोई दुःख नहीं है। जीवन की अनन्त ऊर्जा और उसको घेरने वाले संस्कार की सीमाओं की उपमा देते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :

"जीवन तो एक विशाल नदी और उसकी अपार जलराशि के समान है, जिसका न आदि है और न अंत। तीव्र गति से बहती हुई

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 35,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस जलधारा से हम एक बाल्टी जल निकाल लेते हैं और वह घिरा हुआ सीमित जल ही हमारा जीवन बन जाता है। यही संस्कार है और हमारा अनन्त दुःख भी।"[1]

अतः शिक्षक की सृजनात्मक क्षमता इस बात में है कि वह अपने तथा विद्यार्थियों के गहरे संस्कारों का बड़ी सावधानी से अवलोकन करे तथा उसकी सत्यता का पता लगाये। इस कार्य के लिए शिक्षक के पास धैर्य जैसी एक गुणवत्ता भी होनी चाहिए, जो एक सावधानी है तथा जिसमें समग्र उत्तरदायित्व-जनित अध्यवसाय एवं उद्यम निहित है। वास्तविकता यह है कि शिक्षण संस्थाओं में शिक्षक ही सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है और शिक्षण एक उच्चतम एवं महानतम पेशा है, क्योंकि उसी पर मानव जाति के भविष्य का कल्याण एवं सुख तथा शांति निर्भर करती है।

विचार हमारे दैनिक जीवन की सच्चाई है और वही हमारे जीवन को सीमित भी करता है। हमारा समस्त जीवन विचारों की ही कहानी है। जितने भी तथाकथित धर्म-ग्रंथ हैं, वे सभी विचारों की ही उपज हैं, भले ही उन्हें हम ईश्वरीय ज्ञान या दैवी संदेश मानकर श्रद्धा रखते हों, परन्तु वे सभी मूलतः विचार ही हैं। पृथ्वी पर खड़े विशाल मंदिर, मसजिद, गिरिजाघर तथा गुरुद्वारे और उनमें प्रतिष्ठित ईश्वरीय प्रतिमाएँ हमारे तथाकथित स्वर्ग और नर्क ये सभी विचार के ही समुच्चय हैं। आधुनिक विज्ञान के आविष्कार जैसे परमाणु बम, नाभिकीय बम, नाभिकीय रियेक्टर, कृत्रिम उपग्रह, यंत्र-मानव, जीवनदायिनी शल्य क्रियाएँ तथा रासायनिक औषधियाँ क्या विचार की उपज नहीं हैं। वे सभी आदर्श जिन्हें प्राप्त करने के लिए अनवरत हिंसा, क्रूरता, धूर्तता तथा मक्कारी आदि की जाती है, विचार ही तो है? हमारी चतुराई एवं बुद्धिमत्ता भी विचार की ही देन है। ऐसे ही चतुर बुद्धिमान् और चालबाज लोगों की इस विश्व में प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा की जाती है और महत्वपूर्ण पद तथा स्थान इन्हीं लोगों को ही प्राप्त होते हैं। लेकिन अंत में चतुराई एवं बुद्धिमत्ता

1. शिक्षा केन्द्रों के नामपत्र, पृ० 42,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें धोखा दे जाती है। ऐसे लोग अपने हृदय में यह कभी नहीं अनुभव कर पाते कि प्रेम क्या है, या गहरी दयालुता और उदारता क्या है, क्योंकि वे अपने अहंकार एवं मिथ्या अभिमान के कटघरे में बन्द होते हैं। यही सब कुछ है जो कि हमारे सुविधा-सम्पन्न विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में हो रहा है। हम जीवन तथा उसके सौन्दर्य को जानने की क्षमता खोते जा रहे हैं।

इस बात में सच्चाई है कि विचार ने हमारे जीवन को हर प्रकार से प्रभावित किया है। विचार ने ही हमारे जीवन को सुखमय तथा दीर्घायु बनाया है, विचार के द्वारा ही हम जीवन के हर क्रिया-कलाप को सम्पन्न करते हैं। विचार का एक दूसरा पहलू भी है जो अत्यंत भयानक है। विचार से ही स्वयं के होने का भाव पैदा होता है, विचार ने ही हमें सुरक्षा प्रदान की है। वह विचार ही है जो हमें चिंता, भय, दुःख, ईर्ष्या आदि भावों को भुलाने के प्रयास में काल्पनिक देवताओं की भक्ति आदि के लिए प्रेरित करता है। विचार एक सीमित चीज है, अतः उसे असीम का स्पर्श भी नहीं हो सकता। विचार की गति-विधि सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य तो चरम संवेदनशीलता है। जब "मैं" की धारासूख जाती है तो सौन्दर्य का स्रोत फूटता है। जब "मैं" नहीं होता तो जो कुछ होता है, वही सौन्दर्य है। विचार मन की समग्रता को विघटित करता है। समग्र मन को सक्रिय करने में ही प्रज्ञा का जागरण होता है, जो असींम और अनन्त है। मन की समग्रता एवं उसकी गुणवत्ता को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :

"हमारा सरोकार मन की समग्रता से है। मन के अन्तर्गत कई चीजें हैं–इन्द्रियाँ, अव्यवस्थित एवं अनियमित भावनाएँ, मस्तिष्क की क्षमता एवं सदा सक्रिय विचार। चेतना के विभिन्न गुण और लक्षण समेत यह सब मन ही है। जब समग्र मन सक्रिय होता है तो वह असीम और अनन्त होता है, बिना किसी पश्चाताप की छाया के या पुरस्कार की आशा के इसके पास बृहत् ऊर्जा और क्रिया शीलता होती है। मन की यह गुणवत्ता, यह समग्रता, प्रज्ञा है।"[1]

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 45,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रज्ञा जागरण कोई इच्छा की बात नहीं होती, न ही उसे बाजारू मूल्यों के द्वारा क्रय ही किया जा सकता। प्रज्ञा जागरण तो तभी होगा, जब हम ईमानदार होंगे। ईमानदारी का अस्तित्व तभी होगा, जब मन द्वैत और द्वन्द्व से मुक्त हो।

प्रज्ञा के जागरण से अन्तर्दृष्टि की क्रिया जन्म लेती है, जो स्मरण का सातत्य नहीं है। अन्तर्दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"अंतर्दृष्टि वस्तुतः द्रष्टा के बिना दर्शन है और दर्शन तत्क्षण घटित होता है। इसी अन्तर्दृष्टि से क्रिया जन्म लेती है। इस अन्तर्दृष्टि से किसी भी समस्या की समझ और व्याख्या सही, सटीक और अंतिम होती है। वहाँ कोई पश्चाताप या प्रतिक्रिया नहीं रह जाती। यह परम और पूर्ण है।"[1]

प्रज्ञा एवं अन्तर्दृष्टि के संबंधों को स्पष्ट करते हुए आपका कहना है कि :—

"अंतर्दृष्टि अखण्ड है। अखण्ड का अर्थ है समग्र, मन। मन मानवता का समस्त अनुभव है–तकनीकी कौशल सहित विशाल संचित ज्ञान और इसके साथ ही दुःख, चिन्ता, पीड़ा, शोक, विषाद् और अकेलापन। किन्तु अन्तर्दृष्टि इन सबके पार की घटना है। अन्तर्दृष्टि के लिए दुःख विषाद् और अकेलेपन की पीड़ा से मुक्ति अनिवार्य है। अन्तदृष्टि एक सतत् गति नहीं है। विचार इसे पकड़कर बंदी नहीं बना सकता। अन्तदृष्टि उच्चतम प्रज्ञा है, और यह प्रज्ञा विचार का प्रयोग एक यंत्र के रूप में करती है। अन्तदृष्टि का अर्थ है प्रज्ञा और इस प्रज्ञा का अर्थ है सौन्दर्य एवं प्रेम। उन्हें वस्तुतः एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता–वे वस्तुतः एक हैं और यही वह "समग्र" है जो परम पुनीत और पवित्र है।"[2]

स्कूल का अर्थ है वह जगह जहाँ व्यक्ति दैनिक जीवन के लिए

---

1. वही, पृ० 50,
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 51,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक ज्ञान के साथ ही साथ जीने की कला और उसकी समस्त सूक्ष्मताओं और जटिलताओं को भी सीखता है। जीने की कला जीवन की परम व्यवस्था है, और इस परम व्यवस्था को हम तभी जान सकते हैं जब हम अव्यवस्था तथा उसके स्रोतों की पूरी तरह छान-बीन कर लें। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"शिक्षक एवं विद्यार्थी, दोनों ही अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता की दशा में जीते हैं-बाह्य एवं आन्तरिक दोनों रूपों में। भले ही उन्हें इस का बोध न हो, और यदि उनमें से किसी को उसका बोध हो भी जाय तो वह बाहरी चीजों में तुरन्त व्यवस्था ले आता है, किन्तु उसे आन्तरिक अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता का बोध बिरले ही हो पाता है।"[1]

अव्यवस्था के स्रोतों की चर्चा करते हुए आपका कहना है कि "ईश्वर अव्यवस्था है।" मनुष्य ने जिन असंख्य ईश्वरों का आविष्कार किया अथवा एकेश्वर वादी दृष्टि अपनायी या किसी मुक्तिदाता की कल्पना की, इन सबके कारण जगत् में उत्पात तथा उपद्रव ही फैले हैं। यह सब इन्हीं परिकल्पनाओं का परिणाम है कि समाज में असंख्य विभाजन एवं अलगाव पैदा करने वाले संप्रदाय, प्रतीक और प्रतिमाओं के साथ ही युद्धों का भी जन्म हुआ है। यह सब अस्तव्यस्ता एवं अव्यवस्था के स्रोत हैं। हर सभ्यता ने ईश्वर का आविष्कार कर रक्खा है और ये ईश्वर भीषण अत्याचार, युद्ध एवं विनाश के कारण रहे हैं। इन सभ्यताओं ने भले ही असाधारण रूप से सुन्दर भवनों का निर्माण कर लिया हो, लेकिन इन भवनों एवं इमारतों के अन्दर अँधेरा है, अस्त व्यस्तता का उद्‌गम है। क्या हम इन ईश्वरों तथा भगवानों को स्वयं से परे हटा सकते हैं ? यदि नहीं, तो समाज में व्यवस्था ले आना मात्र एक कल्पना होगी। इसके अतिरिक्त परस्पर विरोधी इच्छाएँ, सुरक्षा की खोज और भय, सुख की सतत् माँग आदि भी अव्यवस्था के स्रोत हैं। इच्छा एवं उसके बदलते विषय के कारण भी हमारी व्यवस्था बिगड़ी है। क्योंकि अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए या तो हमने समाज में शोषण अत्याचा एवं हिंसा फैलाई है या

2. वही, पृ० 52,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा कथित धार्मिक बनने के उद्देश्य से इन इच्छाओं का दमन किया है। इच्छा का दमन समस्त संवेदनाओं का दमन है, जो मन को पंगु बना देता है। माना कि हम इच्छा के बिना नहीं जी सकते, क्योंकि भूख लगने पर भोजन चाहिए तथा प्यास लगने पर जल की आवश्यकता पड़ेगी ही। परन्तु यदि हम इन इच्छाओं की छान-बीन करके उन्हें उचित स्थान दे दें तो ये इच्छाएँ हमारे दैनिक जीवन की अव्यवस्था के कारण नहीं होंगे।

मनुष्य का इतिहास मनुष्य द्वारा मनुष्य के साथ किए गए व्यवहार की कहानी है। मनुष्य ने मनुष्य के साथ जो कुछ किया है, उसकी कोई सीमा नहीं है। राजे-महाराजे तथा राजनीतिज्ञों के रूप में या तथा कथित ज्ञानी एवं बुद्धिमान् के रूप में उसने मनुष्य को सताया, जलाया, हत्या की, समाज के कमजोर तथा अशिक्षित लोगों का शोषण किया तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की बौद्धिक रूप रेखा के आधार पर निर्मित समाज की धारणाओं की वेदी पर मनुष्य ने मनुष्य का बलिदान किया। मजे की बात है कि यह सब कुछ व्यवस्था एवं प्रेम के नाम पर ही किया गया कृत्य है। हमारे विद्यालयों में इस प्रकार के इतिहास को बहुत ही महत्त्व दिया जाता है, जबकि वास्तविक प्रेम एवं सामाजिक व्यवस्था का मूल उद्गम क्या है, इसे बताने का कभी भी प्रयास नहीं किया जाता। शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत शिक्षकों का यह भी दायित्व है कि वे स्वयं तथा विद्यार्थियों को स्वार्थपरता एवं अहंकार को समझने में उनकी सहायता करें, जिसकी अज्ञानता में मनुष्य, मनुष्य के प्रति क्रूर एवं अमानवीय रहा है। याद रक्खें, शिक्षक होना कोई पद प्राप्त करना नहीं है अपितु मानवीय समस्याओं का समाधान ढूंढने में बालक एवं स्वयं की सहायता करना है। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"शिक्षक के रूप में" आपका कोई ओहदा या पद नहीं है। आप एक मानव हैं और एक विद्यार्थी की तरह आप के पास भी जीवन की सभी समस्या है। जब आप ओहदे या पद से बोलते हैं, उस क्षण आप याद रक्खें कि आप वस्तुतः मानव संबंध की हत्या कर रहे हैं। ओहदा, पद का अर्थ है शक्ति, और जब आप चेतन या अचेतन रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसकी खोज करते हैं, तब आप क्रूरता के एक जगत् में प्रवेश कर जाते हैं।"[1]

शिक्षण संस्थाओं में शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वह एक ऐसी नयी पीढ़ी का निर्माण करे जिससे मनुष्य, अहंकार केन्द्रित क्रिया से मुक्त हो सके। हम विद्यार्थियों में ऐसे मन की संरचना को जन्म दें जिसके भीतर द्वन्द्व न हो और इसप्रकार हम अपने चारो ओर के जगत् में द्वन्द्व एवं संघर्ष का अंत कर डालें। इसके लिए शिक्षकों एवं विद्यार्थियों, दोनों के लिए ऐसी शिक्षा देनी पड़ेगी जो अपने मन के द्वारा बनाये गए कारागृहों से स्वयं के मन को मुक्त कर सकें।

यदि हमारी शिक्षण संस्थाएँ एवं उनमें कार्यरत शिक्षक ऐसी पीढ़ी को जन्म देना चाहते हैं जो आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही रूपों में दुःख-तकलीफ, चिंता और वेदना से मुक्त हो सके तो उसके लिए अपने शिक्षण कार्य में समस्त प्रकार की तुलना एवं माप-तौल से अपने को दूर रखना होगा, क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी अद्वितीय होता है और उसकी तुलना किसी अन्य विद्यार्थी से नहीं की जा सकती। जिस प्रकार बगिया के विभिन्न फूलों में किसी प्रकार की तुलना या प्रतिस्पर्धा नहीं होती, उसी प्रकार हर बच्चा स्वयं जैसा होने के बीज लेकर ही आता है। अतः शिक्षकों एवं शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत लोगों का यह उत्तरदायित्व होता है कि वे विद्यार्थी को उसी प्रकार स्वीकार करें जैसा कि वह है, न कि जैसा उसे होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शिक्षक को तुलनात्मक मूल्यांकन के आधार पर कोई निष्कर्ष निकाल कर विद्यार्थियों में श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना नहीं पैदा करनी चाहिए। जब शिक्षक तुलना एवं माप-तौल को दूर रख देता है तो उसका सरोकार विद्यार्थी के साथ उसी रूप में होता है, जो वह वस्तुतः है, और इसप्रकार विद्यार्थी के साथ उसका संबंध प्रत्यक्ष एवं बिल्कुल ही भिन्न होता है। तुलना करना बुद्धि का कार्य है, जो समग्रता का विभाजन करती है, जबकि प्रेम तुलना नहीं है। जब प्रतिस्पर्धा एवं तुलना का कोई बोध नहीं होता तो शिक्षण संस्थाओं के

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 65,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपूर्ण वातावरण में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"जब किसी "अ" विद्यार्थी की तुलना उस "ब" विद्यार्थी से की जाती है जो बुद्धिमान्, तेज और स्वाग्रही है तो यह तुलना ही "अ" का सत्यानाश कर डालती है। इस सत्यानाश को प्रतिस्पर्धा एवं अनुकरण में देखा जा सकता है और साथ ही "अ" द्वारा निर्मित आदर्शों के अनुकरण में भी। चेतन या अचेतन रूप से यह वैमनस्य, ईर्ष्या, चिन्ता और यहाँ तक कि भय को जन्म देता है, और इसी स्थिति में "अ" अपना शेष जीवन बिताता चला जाता है।"[1]

शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत शिक्षक एवं कर्मचारियों तथा विद्यार्थियों के बीच यदि सहयोग की भावना नहीं है तो कार्य करना कठिन हो जाता है। "सहयोग" शब्द का अर्थ होता है मिल-जुलकर कार्य करना, जिसके लिए बृहद् ईमानदारी की आवश्यकता होती है। यद्यपि कि हमारे कानून, धर्म एवं सरकारें, सभी बात तो सहयोग की करते हैं, परन्तु ये मूल रूप से "पृथकता" को ही बढ़ावा देते हैं और मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार करते हैं। हमारे विश्वासों, आदर्शों, निष्कर्षों और पूर्वाग्रहों का यह विभाजन आपसी सहयोग की भावना उत्पन्न करने में अवरोध उत्पन्न करता है। हमारे तथाकथित धर्म भी व्यक्तिगत मोक्ष, निर्वाण, बुद्धत्व, प्रज्ञा जैसी आध्यात्मिक उपलब्धियों को ही महत्व देते रहे हैं। अतः शिक्षण संस्थाओं का यह उत्तरदायित्व है कि वे व्यक्तिगत लाभ की भाषा का परित्याग कर समष्टि के उत्थान के लिए सहयोग की भावना जागृत करें क्योंकि समष्टि में भिन्न हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"सहयोग करने का अर्थ है स्वयं के भीतर एक मुक्त जाँच-पड़ताल करना। जब तक आप स्वयं में अखंडित एवं सुव्यवस्थित नहीं हैं अर्थात् अंतर्विरोध और असंगति से मुक्त नहीं हैं, तब तक आप संभवतः दूसरे के साथ सहयोग नहीं कर सकते। यदि आप स्वयं द्वन्द्व और संघर्ष से

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 84,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ित हैं, दबाव एवं तनाव से ग्रस्त हैं तो आपसे सहयोग नहीं हो सकता।"[1]

शिक्षण संस्थाओं में अनुशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अनुशासन शब्द को अनेक प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट करके उसका गलत ढंग से उपयोग किया जा रहा है। सामान्यतया अनुशासन का अर्थ मन को एक विशेष ढाँचे के अनुरूप बनाने, मन पर नियंत्रण करने, किसी नीति के अनुरूप चलने, एक विशेष प्रकार से सोचने, इत्यादि के अर्थ में किया जाता है। परन्तु वास्तविक अनुशासन का अर्थ है—अपने मन एवं हृदय के सहयोग से मित्रवत एवं स्नेहपूर्ण अवस्था में सीखना। अनुशासन विद्यार्थी एवं शिक्षक के बीच सीखने की एक अवस्था और संबंध है, यह अधिकार जनाने या स्वीकार करने का संबंध नहीं है। अनुशासन की व्याख्या करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"अनुशासन शिष्यत्व से जुड़ा हुआ है, क्योंकि अनुशासन का संबंध सीखने से है। अनुशासन का अर्थ किसी चीज का अनुकरण करना नहीं है या विद्रोह करना नहीं है, बल्कि अनुशासन का अर्थ है अपनी प्रतिक्रियाओं, अपनी पृष्ठभूमि और इनकी सीमाओं के बारे में सीखना और इनके पार चले जाना।"[2]

---

1. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 110, 94.
2. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र, पृ० 112.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

शिक्षा में शिक्षकों की भूमिका

अभिनव मानव के निर्माण के लिए सम्यक् शिक्षा की अवधारणा एवं शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों की भूमिका तथा उनके उत्तरदायित्व को स्पष्ट करने के लिए कृष्णमूर्ति जी समय-समय पर शिक्षकों से वार्ताएँ किया करते थे। यद्यपि ये वार्ताएँ विशेष रूप से उनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत शिक्षकों को संबोधित करके ही की गई हैं, परन्तु ये वार्ताएँ उन सभी लोगों का मार्ग-दर्शन कर सकती हैं जो शिक्षा में रुचि लेते हैं तथा अभिनव मानव के निर्माण में उत्सुक हैं। शिक्षा के प्रयोजन एवं उसके लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए श्री जे० कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"दक्षिण में ऋषि वैली तथा उत्तर में राजघाट जैसे स्थानों पर हमारा उद्देश्य एक ऐसे परिवेश का, एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जहाँ यदि संभव हो सके, एक नये मानव को जन्म दिया जा सके। बालक को सर्वश्रेष्ठ टेक्नोलाजिकल कार्यक्षमता से सम्पन्न करना कि वह आधुनिक विश्व में स्पष्टता से एवं कुशलता से कार्य कर सके और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिससे कि बालक एक पूर्ण मनुष्य के रूप में पूरी तौर से विकसित हो सके। यही इन विद्यालयों का प्रयोजन है, लक्ष्य है।"[1]

पूर्णता में बालक का विकास होने से ही अभिनव मानव को जन्म दिया जा सकता है, ऐसा कृष्णमूर्ति जी का मानना है। पूर्णता में विकसित होने का तात्पर्य यह है कि बालक को विभिन्न विषयों तथा तकनीकी

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 61,
(शिक्षा संवाद-छात्रों एवं शिक्षकों से, वार्ता प्रकाशक—कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यक्षमता में दक्षता प्रदान करने के साथ उसे अच्छाई में पुष्पित होने का अवसर भी दिया जाय, जिससे कि वह व्यक्तियों, वस्तुओं, विचारों तथा समस्त जीवन के साथ सही रूप में संबंधित हो सके। क्योंकि संबंध ही जीवन है अर्थात् जीने का अर्थ ही है संबंधित होना। यदि सौन्दर्य का बालक को बोध नहीं है, यदि प्रकृति के प्रति, संगीत और कला के प्रति संवेदन शीलता नहीं है तथा एक ऊँची एवं विकसित सौन्दर्यानुभूति नहीं है तो किसी भी वस्तु के साथ उसका संबंध नहीं हो सकता।

आज की शिक्षा पूर्णरूपेण प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा, महत्त्वाकांक्षा एवं बाह्य सम्पन्नता का संवर्द्धन करने के आधार पर विकसित की जा रही है। शिक्षकों को चाहिए कि इस प्रकार की शिक्षा के विनाशकारी परिणामों एवं प्रभावों को गंभीरता से समझें तथा इससे मानवता को होने वाले दुष्प्रभावों से बचाने में यथा संभव योगदान करें। वास्तव में प्रतियोगी शिक्षा तथा उसकी प्रतिक्रिया में छात्र का विकास होना बड़ा ही विनाश कारी है। शिक्षा के नाम पर पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही देशों में जो हो रहा है वह विनाशकारी है। इस प्रकार की शिक्षा समाज की मान्यताओं, आवश्यकताओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप बनने को प्रोत्साहित करती है जो अनिवार्यतः दुःख को आमंत्रित करने वाली है।

मानव एक ही साथ दो जगत् में जीता है। एक तो उसका बाह्य जगत् है, और दूसरा है आंतरिक जगत्, जो विचारों, भावनाओं, अनुभवों, संस्कारों आदि के द्वारा निर्मित है। वास्तविक शिक्षा बाह्य एवं आन्तरिक दोनों का साथ-साथ सामंजस्यपूर्ण विकास करने में सहायक होती है। यदि हम छात्रों को बाह्य रूप से गणित, भौतिकी, नृत्य, संगीत तथा तकनीकी विषयों में ही कार्य कुशल बनाते रहे तो वह केवल उतना ही नहीं रह जाता, अपितु वह ईर्ष्यालु, क्रोधी, हताश एवं निराशा से भरा हुआ तथा महत्त्वाकांक्षी हो जाता है। इसलिए वह ऐसे समाज का निर्माण करेगा जिसमें सदा ही दुर्व्यवस्था रहेगी, क्योंकि वह व्यक्ति तकनीकी ज्ञान में चाहे जितना भी निपुण क्यों न हो जाय, परन्तु वह अपने सामाजिक संबंधों में सदा अन्तर्विरोध में रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकनीकी ज्ञान से सम्पन्न समाज में गरीबी, भुखमरी का अभाव तथा सुख-साधन की सुविधा तो अवश्य होती है, परन्तु वहाँ कोई व्यवस्था न होने के कारण सभी कुछ अस्त-व्यस्त होता रहता है। व्यवस्था तो आंतरिक विकास के कारण ही संभव होती है, और आन्तरिक व्यवस्था अनिवार्यतः एक अच्छे समाज का निर्माण करती है, जहाँ सुख एवं शांति संभव हो सकेगी। यदि समाज का शिक्षक छात्रों को सम्यक् शिक्षा नहीं दे पाता तो उसे समाज के अन्तर्विरोध में बह जाने की संभावना बनी रहती है। इसलिए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"आन्तरिक एवं बाह्य, दोनों को साथ-साथ चलना चाहिए–शिक्षा की यही वास्तविक समस्या है—यह देखना कि बालक जब विद्यालय छोड़ता है तो वह आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार से सद्गुण सम्पन्न है।"[1]

अतः शिक्षक का यह दायित्त्व है कि बालक को शिक्षित करते समय वह दोनों ही मार्गों – बाह्य एवं अभ्यंतर की यांत्रिक एवं अपर्याप्त प्रक्रिया को देखने में उसकी सहायता करे। शिक्षक के रूप में यदि मेरा संबंध केवल पुष्पों से है, जिसमें विलक्षण आभा तथा सौन्दर्य है और मैं गणित में दक्ष नहीं हूँ तो मुझमें ही कोई त्रुटि है। यदि मेरा संबंध केवल गणित से है और बाह्य सौन्दर्य से हमारा कोई सरोकार नहीं है, तो भी मुझमें ही कोई त्रुटि अवश्य है। यदि शिक्षक ऐसा सोचता है कि पहले गणित सीख लें तो बाद में अभ्यंतर की सुधि लेगें, तो यह संभव नहीं हो सकेगा। क्योंकि वर्षो से ज्ञान प्राप्त करने में संलग्न रहने के कारण हमारे अन्दर के अवलोकन की क्षमता एवं अनुभूति किसी को गौरव प्रदान करने के कारण असंवेदन शील हो चुकी होती है। वास्तविकता यह है कि संवेदन शीलता प्रज्ञा का सार तत्त्व है। उदाहरण के लिए यदि हमने अपने जीवन का तीस या चालीस वर्ष गणित सीखने में व्यतीत कर दिया है, और कभी भी पुष्पों, वृक्षों, नदियों के प्रवाह तथा आकाश में उड़ते हुए बादल एवं पक्षियों के सौन्दर्य का अवलोकन नहीं किया तो हमारा जीवन मृतक तुल्य हो जाता है। यदि हम संवेदनशील हैं तो पुष्पों के दर्शन के साथ-

1. शिक्षा संवाद, पृ० 63,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ गणित भी सीख सकते हैं। अब यह प्रश्न यह है कि हम बालक में संवेदन शीलता एवं प्रज्ञा की गुणवत्ता का विकास कैसे करें ? इस प्रश्न के उत्तर में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"छात्र को स्वतंत्र होना चाहिए, अन्यथा वह संवेदनशील नहीं हो सकता। यदि वह गणित के अध्ययन के लिए, उसका आनन्द लेने के लिए, उसमें मन लगाने के लिए, जिसे स्वतंत्रता कहते हैं, स्वतंत्र नहीं है तो वह उसका समुचित रूप से अध्ययन नहीं कर सकता। और उस पुष्पों का अवलोकन करने के लिए, सौंदर्य के अवलोकन के लिए भी उसे स्वतंत्र होना चाहिए। अतएव सर्व प्रथम स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि बालक को स्वतंत्र होने में हमें उसको सहायता देनी चाहिए। स्वतंत्रता में व्यवस्था निहित है, स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि बालक जो चाहे करे, जब चाहे कक्षा में अथवा भोजन के लिए आये।"[1]

प्रज्ञा एवं संवेदन शीलता का विकास स्वतंत्रता में ही हो सकता है। यहाँ स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि आपको मनमानी करने की छूट हो, अपितु स्वतंत्रता का अर्थ है ऐसी व्यवस्था एवं अनुशासन को स्थापित करना, जिसकी सहायता से शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों को ही सीखने एवं सिखाने का समान अवसर प्राप्त हो। स्पष्ट है कि ऐसी स्वतंत्रता बालक को डाँटने-फटकारने, पीटने, तुलना करने या अंक कम और अधिक देने का दबाव देकर नहीं लायी जा सकती। पुरानी शिक्षा प्रणालियाँ बालक को उसकी स्वतंत्रता देने में सक्षम नहीं है क्योंकि उसमें दण्ड का भय एवं पुरस्कार का लोभ छिपा रहता है, जहाँ भय एवं लोभ छिपा है, वहाँ स्वतंत्रता नहीं हो सकती। कृष्ण-मूर्ति जी का मानना है कि दण्ड एवं पुरस्कार पर आधारित शिक्षा प्रणालियाँ प्रातः मृत होती हैं। यदि एक बार शिक्षक इस तथ्य को देख लें कि किसी भी प्रकार का दण्ड एवं पुरस्कार विनाशकारी है, तो वह पुनः उन पद्धतियों का सरलता से त्याग कर देता है। इस प्रकार जब शिक्षक स्वयं अनुशासित हो जाता है जो अन्वेषण की स्वतंत्रता से आता है तो ऐसी अनुशासित स्वतंत्रता शिक्षक द्वारा

1. शिक्षा संवाद, पृ० 66,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालक तक स्वयं संप्रेषित हो जाती है, जिसमें विचार की कोई सहायता नहीं ली जाती। ऐसी स्थिति में शिक्षक केवल शाब्दिक स्तर पर ही नहीं वरन् पूर्णतया भिन्न स्तर पर बालक के साथ संवाद स्थापित कर लेता है।

शिक्षक का यह कार्य है वह बालकों को विकसित होने में हर प्रकार उनकी सहायता करें कि वे वर्तमान विश्व की समस्याओं का गहराई से अवलोकन कर सकें तथा उसके द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों की गंभीरता को देखते हुए उन कठिनाइयों का ठीक ढंग से सामना करने में सक्षम हो सकें। विश्व में बदलते हुए घटना चक्र के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का सामना सर्वथा नवीन पद्धतियों से करना होगा। पुरानी पद्धतियाँ नवीन समस्याओं का समाधान नहीं दे सकती, क्योंकि हमारा मन पुरानी परंपराओं एवं रूढ़ियों से ग्रसित होता है, जबकि हमारी समस्याएँ एकदम नवीन हैं। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

"मेरे विचार से इसमें से अधिकांश जानते हैं कि विश्व में क्या हो रहा है—युद्ध की संभावना है, अनेक प्रकार के तनाव और द्वन्द्व हैं, जिन्होंने नवीन संकट ला दिया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इन चुनौतियों का सामना करने के लिए एक पूर्णतया भिन्न प्रकार के मन की आवश्यकता होती है--एक ऐसे मन की जो विशेषज्ञ नहीं है, जिसका केवल तकनीकी में ही प्रशिक्षण नहीं हुआ है, जो केवल समृद्धि की खोज में नहीं लगा है वरन् जो चुनौतियों का पर्याप्त रूप में पूरी तरह सामना कर सकता है और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा का यही कार्य है, एक विद्यालय का भी यही कार्य है।"[1]

विशेषज्ञ के रूप में शिक्षित मन जीवन की अत्यंत जटिल चुनौतियों का सामना करने में अक्षम होता है। सारे विश्व में विशेषज्ञ ही, राजनीतिक विशेषज्ञ वैज्ञानिक विशेषज्ञ तथा अन्य विशेषज्ञों के रूप में शासन कर रहे हैं। फिर भी, उनका मार्ग-दर्शन एक प्रकार से असफल ही होता जा रहा है। इसका कारण यह है कि वे केवल उन्हीं

1. शिक्षा संवाद, पृ० 70.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्याओं का सामना करने का प्रयास करते हैं जो तात्कालिक रूप में उठ रही हैं। तात्कालिक समस्याओं के निदान से जो दूरगामी परिणाम होने वाले हैं, उनके प्रति उनकी दृष्टि नहीं जाती। सही शिक्षा मन को इस प्रकार संवर्धित करती है कि वे आदतों की लीकों में न पड़ें, चाहे वे आदतें कितनी भी महान्, अच्छी या तकनीकी दृष्टि से कितनी भी आवश्यक क्यों न हों। शिक्षक को ऐसे मन का संवर्द्धन करना चाहिए जो असाधारण रूप से सजीव और सतर्क हो तथा जो ज्ञान का उपयोग करने में पूरी तरह सक्षम हो।

सीखना एवं ज्ञान-संचयन की क्रिया में अन्तर है। मात्र ज्ञान-संचयन की क्रिया में सीखना समाप्त हो जाता है। सीखना तभी होता है, जब ज्ञान-संचयन की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं होती। सारे विश्व में शिक्षा के नाम पर मात्र ज्ञान-संचयन करने या विशेषज्ञता ग्रहण करने या विशेषज्ञता ग्रहण करने को ही प्रोत्साहित किया जा रहा है। यही कारण है कि इस प्रकार की क्रिया में मन मन्द एवं सुस्त होता जा रहा है और नये के प्रति सीखने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। शिक्षकों को सम्बोधित करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"क्या एक विद्यालय में एक व्यक्ति, केवल ज्ञान जो कि इस विश्व में जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक है, उसका ही संचयन करके एक ऐसे मन को भी प्राप्त कर सकता है जो निरंतर सीख रहा है? इन दोनों में कोई अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है। शिक्षा का संबंध जीवन की समग्रता से होना चाहिए, न कि तत्काल उत्पन्न होने वाली चुनौतियों के प्रति तत्काल होने वाली अनुक्रिया से।"[1]

क्रियाशीलता हममें से प्रत्येक की अनिवार्यता है, अतः इसमें तात्कालिकता से युक्त दृष्टि होनी चाहिए। एक शिक्षक जो बालक को शिक्षित कर रहा है, उसके पास मात्र ज्ञान ही नहीं होना चाहिए वरन् प्रकृति की, अर्थात् पहाड़ियों, वृक्षों, चाँद-तारों के सौन्दर्य को देखने की क्षमता के साथ प्रेम, उदारता, सहृदयता एवं संवेदनशीलता भी होनी चाहिए। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 71.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यदि एक शिक्षक यह अनुभव करता है कि एक छात्र को शैक्षिक रूप से अति प्रवीण होना चाहिए और उसके साथ ही उसे नृत्य करना, वृक्षों का, पर्वतों का अवलोकन करने आना चाहिए और उसे भी जानना चाहिए कि कैसे स्त्री को बिना सामान्य यौन भावना के देखा जाय एवं जीवन के असाधारण सौन्दर्य पर विचार कैसे करना चाहिए, दुःख को कैसे जानना चाहिए और दुःख के परे कैसे जाना चाहिए—इन सब विषयों में वह कैसे आरम्भ करता है ?"[1]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि कोई भी शिक्षक किसी भी प्रकार सत्ता का भय दिखाकर बालक में सद्गुण का विकास नहीं कर सकता। सत्ता की भयानकता की चर्चा करते हुए आपका कहना है कि :—

"मेरी दृष्टि में सत्ता बड़ी भयानक है, विनाशकारी है। सत्ता का लक्षण निरंकुशता है, चाहे वह पुरोहित की सत्ता हो, पुलिस वाले की ही अथवा कानून की हो। ये सब बाह्य सत्ताएँ हैं। आन्तरिक सत्ताएँ भी होती हैं। ज्ञान की सत्ता स्वयं अपने सम्मान की सत्ता, अपने उन अनुभवों की सत्ता जो जीवन के प्रति—अभिवृत्तियों को निर्धारित करती है। इस सबसे सत्ता का जन्म होता है और आपको बिना इस सत्ता का उपयोग किये बालक की देखभाल करनी है।"[2]

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि सत्ता का उपयोग किये बिना बालक में अनुशासन ले आना शिक्षक का ही कार्य है। बालक समय पर भोजन करे, समय पर विद्यालय पहुँचे, अनावश्यक बात-चीत न करे और प्रत्येक वस्तु सामंजस्यपूर्ण तथा स्वतंत्रतापूर्वक, स्नेह भाव से पूरा करे, साथ ही साथ बच्चे के अन्दर आत्म-सम्मान के प्रति एक ऐसी जागरूकता का भी उदय होना चाहिए जिसमें सत्ता की भावना न हो। वह मन जो समय की परिधि में कार्य नहीं करता, वह विलक्षण रूप से सतर्क एवं सजीव होता है। ऐसा मन अपनी सतर्कता एवं सजीवता एक ऐसे मन को भी दे सकता है जो सरल है तथा खोज एवं अन्वेषण में लगा है। आमूल क्रान्ति समय की परिधि में नहीं होती। यदि समय

1. शिक्षा संवाद, पृ० 77.
2. वही, पृ० 77.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के माध्यम से हम कोई मनोवैज्ञानिक या मानसिक परिवर्तन करना चाहें तो यह हमारा भ्रम है, क्योंकि यह आलस्य को, स्थगन को, उपलब्धि के बोध को प्रोत्साहित करता है। आमूल क्रांति वास्तव में केवल समयातीत में ही हो सकता है।

सच्ची अस्वीकृति भी हमारी शिक्षा का एक अंग होना चाहिए। बिना समझे-बूझे किसी भी चीज को स्वीकार कर लेने से मन भ्रष्ट हो जाता है। अस्वीकृति शब्द का अर्थ है अतीत को अस्वीकार करना, बौद्ध, हिन्दू, ईसाई होने से अस्वीकार करना। अस्वीकृति सच्ची भी होती है और मिथ्या भी। जिस अस्वीकृति के पीछे कोई प्रयोजन होता है वह अस्वीकृति वास्तव में अस्वीकृति नहीं होती। जब मैं किसी चीज को अस्वीकार करता हूँ और यह नहीं जानता कि भविष्य मेरे लिए क्या है तो वही सच्ची अस्वीकृति होती है। यदि शिक्षक सच्ची अस्वीकृति को भली-भाँति समझता है, केवल बौद्धिक स्तर पर ही नहीं अपितु उसकी वास्तविकता में तो वह छात्रों को भी उसका बोध संप्रेषित कर सकता है। अतीत का पूर्ण अस्वीकार ही नवीन मन का सृजन कर सकता है। इसका यह भी अर्थ है कि छात्र के पास पर्याप्त मात्रा में गणित, भूगोल तथा इतिहास आदि का ज्ञान भी होना चाहिए, फिर भी उसको जो ज्ञात है उससे बिना किसी खेद या पश्चाताप के पूर्णतः मुक्त भी होना चाहिए। ऐसा मन ही ज्ञात का ठीक ढंग से उपयोग कर सकता है।

सीखना तभी घटित होता है जब शिक्षक एवं शिक्षार्थी परस्पर संवाद की स्थिति में होते हैं। संवाद की अवस्था एक ऐसी प्रेमपूर्ण अवस्था होती है, जिसमें मुखाकृति, मन तथा हृदय पर किसी प्रकार का भारीपन नहीं होता, अपितु यह एक ऐसी अवस्था है जबकि दोनों ही व्यक्ति विषयवस्तु का अत्यंत गहराई से अवलोकन कर रहे होते हैं। सीखने की अवस्था का वर्णन करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"मेरे विचार से सीखना तभी होता है, जब आपके और छात्र के बीच वही संवाद की अवस्था हो जो मेरे और आप के बीच है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप जानते हैं कि संवाद शब्द का अर्थ है संप्रेषण करना, सम्पर्क में आना, किसी अनुभूति को संचारित करना, सहभागी होना, न केवल शाब्दिक स्तर पर बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी अनुभूति का और अधिक गहराई एवं और अधिक सूक्ष्मता से अनुभव करना।"[1]

सारे विश्व में सफलता उपलब्धि की चोटी पर पहुँचने की महत्वाकांक्षा के लिए सतत् प्रतियोगिताएँ जारी हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और यहाँ तक कि धार्मिक जीवन में भी ऊँचे उठने का, प्रतियोगी बनने का, मनुष्यों के बीच सभी स्तरों पर तुलना करने का सतत् संघर्ष चल रहा है। अपने दैनिक जीवन में भी हम ऐसा अनुभव करते हैं कि यदि दो चित्र हमारे हाथ में हों तो हम उसी चित्र को सुन्दर एवं श्रेष्ठ ठहराते हैं, जिसका चित्रकार सुपरिचित एवं ख्याति प्राप्त है। परन्तु सीखना कभी भी प्रतियोगिता एवं तुलना से संभव नहीं होता। हमारी शिक्षण संस्थाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति से नये मनुष्य का निर्माण नहीं हो सकता। जिस प्रकार बबूल के बीज से आम का वृक्ष नहीं उग सकता चाहे वह कितनी ही प्रतियोगिता क्यों न करे, उसी प्रकार हम स्वयं के मन की अवस्था को जानकर सदा इसी बात की चिंता करते हैं कि हमें क्या होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अनुपम है, वह अपना बीज स्वयं लेकर पैदा होता है। उस बीज को सही अर्थों में पहचानना एवं उसके अनुकूल वातावरण तैयार करना जिससे वह ठीक ढंग से पुष्पित एवं पल्लवित हो, यही शिक्षा का कार्य है, जो प्रतियोगिता से संभव नहीं होता। प्रतियोगिता केवल कक्षा में ही नहीं, अपितु समस्त जीवन के लिए विनाशकारी है। इससे मनुष्यता द्वन्द्व एवं दुःखों में पड़ जाती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"हम सफलता के लिए प्रतियोगिता करते हैं, क्योंकि हम ऐसा अनुभव करते हैं कि यदि हम प्रतियोगिता में नहीं पड़ते तो बेकार हो जाएँगे। यह केवल एक काल्पनिक अनुक्रिया है। यह एक वास्तविक

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 90.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य नहीं है। जब प्रतियोगी भावना समाप्त हो जाती है, सीखना वास्तव में तभी होता है।"[1]

भय मनुष्य के जीवन की गम्भीर समस्या है। छात्र के अन्दर बैठे हुए भय को समाप्त करने के लिए एक अध्यापक उसकी किस प्रकार सहायता करे, जबकि समाज इस भय को उत्पन्न करने के लिए सब कुछ कर रहा है। मान्यताएँ, धार्मिक आदर्श, वर्गभेद, सफलता का विचार, हीनता एवं श्रेष्ठता का भाव जैसे भ्रष्ट एवं विकृत मूल्यों को उत्पन्न करके बालक के मन में भय का बीजारोपण किया जा रहा है। ऐसे समाज में एक अध्यापक के रूप में हमारा यह दायित्व बनता है कि हम स्वयं के भय के स्वरूप को गहराई से समझें और छात्रों तक भय का संप्रेषण न होने दें, इसके साथ ही छात्र में इस योग्यता का भी समावेश करें कि वह भय उत्पन्न होने के कारणों को पहचान सके भयभीत मन किसी के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता। भयभीत मन वाला व्यक्ति क्या जाने कि पृथ्वी का सौन्दर्य और मनुष्यों के बीच भाईचारा क्या होता है। एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति प्रेम को नहीं जानता। कोई व्यक्ति जो मृत्यु से भयभीत है या जो अपने पड़ोसी अपनी पत्नी तथा बच्चे से अपने पद तथा सुरक्षा से भयभीत है, वह किसी से सहानुभूति नहीं रख सकता। कृष्णमूर्ति जी का सबोधन है कि :—

"भय का क्या महत्व है और आप छात्र की सहायता करना कैसे आरम्भ करेंगे ? आपको छात्र को समस्त जीवन के लिए तैयार करना है और जीवन तो एक अद्भुत रूप से विशाल वस्तु है और जब आप "जीवन" शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें सभी सागर, सभी पर्वत और सभी मानवीय महत्वाकांक्षाएँ, मानवीय कष्ट, निराशाएँ, संघर्ष तथा इस सब की विशालता निहित है। क्या जीवन की इस विशालता को समझने में आप छात्र की सहायता कर सकते हैं ? क्या इस अनुभूति को प्राप्त करने में आपको छात्र की सहायता नहीं करनी चाहिए ?"[2]

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 93 एवं 94.
2. शिशा संवाद, पृ० 100.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्यतया हम लोग अपना जीवन किसी निश्चित प्रारूप के अनुसार जीना चाहते हैं जिसमें कुछ निश्चित विश्वास, आदतें, मत तथा व्यवस्था प्रणालियाँ निहित होती हैं। इस प्रारूप में जब कोई विक्षोभ होता है तो हम या तो उसका विरोध करते हैं या उस प्रारूप को छोड़कर दूसरे प्रारूप में चले जाते हैं। वास्तविक शिक्षा हमें किसी प्रारूप या लीक के अनुसार चलने से सतर्क करती है। हमारा सभी कार्य प्रयोजनपूर्ण होता है। बिना प्रयोजन के हम कोई कार्य तभी कर सकते हैं, जबकि "जो हम कर रहे हैं" वास्तव में उससे प्रेम हो। जब हम कोई कार्य प्रेमपूर्ण ढंग से करते हैं तो ऐसी प्रक्रिया में हमारी विचारणा यंत्रवत् नहीं होती और न ही वह ज्ञान से ज्ञान की ओर चलती है. अपितु वह तथ्य से तथ्य की ओर चलती है। ऐसा मन ही निरंतर सीखने की प्रक्रिया में होता है और वह एक ऐसी वस्तु पर पहुँचने की क्षमता रखता है जो ज्ञान से मुक्त है। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह स्वयं तथा बालक के अन्दर ऐसे मन का अनुशीलन करे जो विचारों से मुक्त हो, क्योंकि ऐसा मन ही सीखने के योग्य होता है।

अब एक मौलिक प्रश्न यह है कि विचार को सदा मस्तिष्क में चलते रहते हैं और ज्ञान की गठरी जो हमारे मन पर बोझ बनी हुई है, जिसके होते हम सत्य का, वास्तविकता का शुद्ध अवलोकन नहीं कर सकते, जबकि सत्य के अवलोकन के लिए निर्विचार मन की आवश्यकता होती है, तो ऐसी गुणवत्ता वाले मन को कोई किस प्रकार प्राप्त करे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"विचार के अंत के लिए मुझे सबसे पहले विचारणा की प्रक्रिया में जाना होगा। मुझे विचार को अपने अन्दर गहराई में पूर्णता से समझना होगा। मुझे प्रत्येक विचार की परीक्षा करनी होगी और किसी भी विचार को बिना पूरी तरह समझे, जाने नहीं देना होगा, ताकि मस्तिष्क, मन, सारा व्यक्तित्व बड़ा सतर्क हो जाय। जिस क्षण विचार का मैं उसके मूल तक, उसके अंत तक पूर्ण रूप से अनुसरण करता हूँ तो मैं देखता हूँ कि विचार अपने से समाप्त हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता क्योंकि विचार स्मृति है। स्मृति अनुभव का चिह्न है और जब तक अनुभव को पूर्णतया अच्छी तरह, समग्रता से समझ नहीं लिया जाता, वह एक चिह्न या संस्कार छोड़ता है। जैसे ही मुझे अनुभव पूर्णतया हो जाता है वह अनुभव कोई चिह्न नहीं छोड़ता। इसलिए यदि हम प्रत्येक विचार में जाँय और देखें कि वह चिह्न कहाँ है और तथ्यात्मक रूप में उस चिह्न या संस्कार के साथ रहें तो वह तथ्य उद्घाटित हो जायेगा और वह तथ्य विचारणा की उस विशेष प्रक्रिया का अंत कर देगा, जिसके कि प्रत्येक विचार, प्रत्येक अनुभूति समझ में आ जाती है। इस प्रकार स्मृतियों के समूह से मन और मस्तिष्क को मुक्त किया जाता है। इसके लिए अत्यधिक अवधान की आवश्यकता है, केवल पक्षियों एवं वृक्षों के प्रति अवधान ही नहीं वरन् आन्तरिक अवधान की, जो देखता है कि प्रत्येक विचार समझ लिया गया है।"[1]

जब शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों में सीखने एवं सिखाने की प्रेरणा होती है तो वहाँ अवधान होता है। इसके लिए एक ऐसा वातावरण निर्मित करना होता है जहाँ सीखने एवं सिखाने वाला दोनों ही परस्पर संवाद की स्थिति में होते हैं। एक शिक्षक के लिए उसका जीवन सीखने एवं सिखाने की एक सतत् प्रक्रिया है जहाँ कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता, अपितु सीखना एवं सिखाना ही अपने आप में प्रयोजन होता है। सीखने का कोई अंत नहीं होता। "मैंने सीख लिया है" ऐसा कहकर बैठ जाना जीवन नहीं है। वास्तव में जीवन का कोई प्रयोजन नहीं है। यह निष्प्रयोजन है, जीवन अपने आप में स्वयं प्रयोजन है। यदि जीवन का कोई प्रयोजन नहीं है, उसका कोई उद्देश्य नहीं है तो इसका केवल एक ही अर्थ शेष रह जाता है कि जीवन "जो है" है।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि यदि बालक शिक्षक से भयभीत नहीं है और वह यह अनुभव करता है कि वास्तव में उसकी देखभाल की जा रही है, तो वह आत्मीयता का अनुभव करता है। ऐसी आत्मीय

1. शिक्षा संवाद, पृ० 107.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्था में ही संवाद घटित होती है, जिसमें बालक सीखता है। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"शिक्षक एक सर्जनशील वस्तु है, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आप सीख लें और फिर दोहरा दें। अपनी कक्षा में उन बालकों को जिनके लिए आपके अन्दर प्रेम की अनुभूति है, आप कैसे शिक्षित करने जा रहे हैं ? याद रक्खें वे आपकी शिक्षा में कोई रुचि नहीं रखते।"[1]

वास्तव में बालक शिक्षा में उतनी रुचि नहीं रखता, जितना कि मौज-मस्ती में अपने समय को बिताने में वह रुचि रखता है वह तो क्रिकेट खेलने, पक्षियों को देखने तथा लड़ाई-झगड़े आदि में रुचि लेता है। हाँ, वह कभी-कभी पुस्तकों में समय बिताना चाहता है। वास्तविकता यह है कि वह वही करना चाहता है जो सर्वाधिक सरल होता है। ऐसी अवस्था में यदि शिक्षक सब कुछ छात्रों पर ही छोड़ देगा तो जितना अधिक वे शिक्षक के साथ सुरक्षित हैं, उतना ही वे शिक्षक का दुरुपयोग भी करेंगे। अतः शिक्षकों को अपने कार्य के लिए नवीन तरीके ढूँढ़ने पड़ेंगे, जिससे विषय रुचिकर बन जाय और इसी खोज में ही शिक्षक की शक्ति विमुक्त होती है। जब भयमुक्त बालक एवं शिक्षक के बीच सही संवाद स्थापित हो जाता है तो वह सीखेगा ही क्योंकि उसका शिक्षक में विश्वास है।

यंत्रों को मनुष्य के श्रम का स्थान ग्रहण करने के कारण लोगों को अधिकाधिक अवकाश मिलने की संभावनाएँ बढ़ती जा रही हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी अपने विषय में निपुण एवं विलक्षण अध्यापकों के अध्यापन को श्रव्य-दृश्य रूप में अंकित करके विश्वभर में वितरित किया जा रहा है और शिक्षकों की उपयोगिता घटायी जा रही है। अतः वास्तव में एक अच्छे शिक्षक के लिए केवल उसी की चिंता नहीं होनी चाहिए जो तात्कालिक है, अपितु भविष्य के लिए भी तैयार होना चाहिए। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"यंत्र मनुष्य के श्रम का स्थान ले रहे हैं, जिससे मनुष्य को और अधिक अवकाश मिलने जा रहा है। इलेक्ट्रानिक मस्तिष्क एवं मशीनें

1. शिक्षा संवाद, पृ० 118.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहेंगी तो अपने से ही कार्य करेंगी। तो इन सबका ध्यान रखते हुए आपके विचार में शिक्षा की दिशा क्या है ? आपके विचार में मनुष्य समग्र विकास की दिशा क्या है ? वह क्या है जिसे आप चाहेंगे कि बालक अपने लिए खोज करे ?"[1]

हमारा समस्त जीवन किसी न किसी व्यवसाय में बीत जाता है। हम अपने मन को समझाने में बहुत कम समय देते हैं या देते ही नहीं, जबकि यही हमारे जीवन का आधार है। वास्तविकता यह है कि हमारे लिए व्यवसाय पहले आता है, जीवन बाद में, जबकि हम सारा व्यवसाय जीवन के लिए ही करते हैं। हमारे शिक्षण संस्थाओं में भी ध्यान, ईश्वर, सत्य तथा अपरिमेय स्थिति में जाने के किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती। हमारे समाज में ऐसी धारणाएँ बन गई हैं कि ध्यान, ईश्वर या सत्य आदि को जानने का कार्य वय प्राप्त लोगों का है, बालक एवं युवक के लिए जीवन में अन्य बहुत से कार्य हैं। ध्यान एक ऐसी औषधि है जिसके बिना मनुष्य पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस मनुष्य के पास एक अच्छा शरीर हो, अच्छा मन हो, जो प्रकृति का भरपूर आनन्द लेता हो, जो विश्व की समग्र विपन्नता, प्रेम, दुःख एवं सौन्दर्य को देखता हो, वही वास्तव में एक पूर्ण मनुष्य है।

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि शिक्षा में ध्यान का एक महत्वपूर्ण स्थान है। एक शिक्षक को स्वयं अपने लिए तथा छात्रों के लिए ध्यान के इस महत्व को समझना चाहिए अन्यथा हम जीवन के एक महत्व-पूर्ण भाग से वंचित रह जायेंगे। ध्यान क्या है ? इसे कैसे किया जाता है। इन सबकी चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"ध्यान हम कैसे करें, इसके स्थान पर हमें यह पता लगाना होगा कि ध्यान से हमारा क्या अर्थ है ? ध्यान हम कैसे करें, इसका पता लगाना तो ध्यान को समझाने का एक अपरिपक्व तरीका होगा। यदि

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 120.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम गुत्थी को सुलझा सके कि ध्यान क्या है तो सुलझाने की वह प्रक्रिया ही ध्यान है।"[1]

ध्यान में सबसे पहली वस्तु है शरीर का स्वाभाविक रूप से शांत होना। शांत शरीर में ही एक अन्वेषक मन निहित होता है, जो न तो किसी निष्कर्ष की खोज में लगा है, न ही जिसका आरंभ किसी प्रयोजन से होता है। वह तो केवल अज्ञात एवं अपरिमेय का अन्वेषण करता है। इस सबके लिए एक असाधारण नमनीय मन की आवश्यकता होती है न कि एक ऐसे मन की जो अस्वीकार या स्वीकार करता है या जो चुपचाप किसी चीज को मान लेता है अथवा अनुकूल बनता है। ध्यान वास्तव में मन का अर्थात् विचारणा, स्मृति आदि का उद्घाटन है। इसी के द्वारा समष्टि का प्रत्यक्षीकरण होता है। ध्यान एक निर्बाध अवलोकन है, एक ऐसा अवलोकन जिसमें कोई पृष्ठभूमि नहीं होती, जिसमें अनन्त-शून्यता होता है। विचार, काल अथवा समय है और ऐसे अवलोकन के लिए जो विचार की सीमा से परे आता है, एक ऐसे मन की आवश्यकता होती है, जो अनुपम रूप से शांत एवं मौन होता है। समग्र जीवन के प्रति आवेशपूर्ण होना, प्रेम करना यही ध्यान है और इसके लिए एक गहरी अनुभूति की आवश्यकता होती है। शिक्षा एवं शिक्षक का यह कार्य है कि वह बालक को इस प्रकार के मन में प्रवेश दिलाये। ध्यान को समग्र जीवन से संबंधित बताते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"धर्म का अर्थ टेक्निकल अथवा धर्म संघीय अथवा शास्त्रीय जीवन ही नहीं होता, उसमें समग्र जीवन निहित है और इस समग्रता को समझने के लिए तथा उसके संवाद के लिये एक ऐसे अवलोकन की आवश्यकता है जो देश-काल से परे हो। मन को अपने अन्दर इस देश विहीन तथा काल विहीन अवस्था का बोध होना चाहिए। उसे उस चित्र को उसकी समग्रता में देखना चाहिए। आप इस समस्या का समापन कैसे करेंगे, छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं वरन् जीवन को

1. शिक्षा संवाद, 128.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी समग्रता में देखने में छात्र की कैसे सहायता करेंगे ? मैं चाहता हूँ कि वह इसकी विशालता का बोध करे।"[1]

हमारी चेतना का बहुत थोड़ा अंश ही सजीव रहता है और उतने ही अंश में हमारे जीवन का स्पन्दन भी होता है। उसमें भी जो स्पन्दित होता है, वह किसी ढर्रे में पड़कर धीरे-धीरे धुंधला हो जाता है। हमारी चेतना का अधिकांश भाग तो सोया रहता है। एक परिपूर्ण मानव होने के लिए हमे अपनी चेतना का पूर्ण विकास करना होगा। जिस प्रकार एक बीज का पूर्ण विकास उसके पुष्पित होने में है, उसी प्रकार चेतना का पूर्ण विकास भी उसके पुष्पित होने में ही है।

चेतना के पुष्पित होने के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जैसे उद्यान के उन पुष्पों को देखें जो अंकुरित होते हैं, फिर उसमें शाखाएँ, पत्तियाँ निकलती हैं, और वह कली पुष्प बनकर अपनी सुगंध वातावरण अर्थात् अस्तित्त्व को समर्पित कर देती है और अंत में पृथ्वी पर गिरकर उसी में विलीन हो जाती है, क्योंकि यही उसका स्वभाव है। यह जीवन भी ऐसा ही है। यदि हम किसी कली को बीच में ही तोड़कर नष्ट कर देते हैं तो वह पुष्पित होने से वंचित रह जाती है और यदि उसे पुष्पित होने के लिए स्वतंत्र छोड़ दें तो वह अपना रंग अपनी सुकुमारता, अपना राग, अपना स्वरूप अर्थात् जो भी उसकी वास्तविकता है उसे वह स्वयं प्रकट कर देती है। इसी प्रकार हमारी चेतना के अन्दर जो भी ईर्ष्या, राग-द्वेष, भय आदि संवेग उठते हैं उनका औचित्य समर्थन किये बिना कि वह अच्छा है या बुरा, सही है या गलत, उन्हें अपनी स्वतंत्रता में पुष्पित होने दें तो आप देखेंगे कि वह सब कुछ अपने आप मुरझा कर मृत हो जाएगा। यदि आप उसे दमन के द्वारा नष्ट या परिवर्तित करेंगे तो उसका अस्तित्त्व सदा बना रहेगा। यदि आप इस मूलभूत तत्त्व को अर्थात् निर्बाध गति से प्रत्येक वस्तु को पुष्पित होने की प्रक्रिया को समझ लेते हैं तो यह एक महाक्रान्ति होगी। यदि छात्र एवं शिक्षक दोनों के अन्दर की प्रत्येक वस्तु पुष्पित होती रहे अर्थात् किसी को भी

1. शिक्षा संवाद, पृ० 132,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारा न जाय, किसी का भी दमन न हो तथा किसी पर नियंत्रण न किया जाय तो यह एक बहुत बड़ी शिक्षा होगी। किसी पुष्प के सौन्दर्य को उसकी शोभा को हम देख सकते हैं जब उसका पुष्पीकरण स्वतंत्रा-पूर्वक होता रहे। इसी प्रकार जीवन के हर अंग का अपनी चरम सीमा तक पुष्पित होने में ही जीवन का सौन्दर्य है और यही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भी है।

शिक्षा के माध्यम से शिक्षक, बालक में छिपी हुई प्रतिभा का पुष्पीकरण होने में उसकी सहायता कैसे करे ? इसके लिए कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"आप सुनते हैं, यदि वास्तव में सुनते हैं तो पुष्पीकरण वास्तव में होगा। यदि आप ने सुना है, समझा है, देखा है, तो सुनने के तुरंत पश्चात् पुष्पीकरण हुआ है, और यदि वह हुआ है तो अन्य वस्तुएँ बालक के लिए बड़ी सरल हो जाती हैं। आप बालक का निरीक्षण करने के लिए उसकी सहायता के लिए शाब्दिक स्तर पर उससे संवाद करने के लिए विभिन्न तरीके ढूँढ़ लेते हैं। स्वयं सुनने की प्रक्रिया ही पुष्पीकरण है।[1]

1. शिक्षा संवाद, पृ० 141.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

शिक्षा में छात्रों का दायित्व

नये मनुष्य तथा नूतन संस्कृति के निर्माण में जीवनपर्यन्त संलग्न रहने वाले श्री जे० कृष्णमूर्ति जी भारत में स्थित कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन द्वारा संचालित विद्यालयों के छात्रों से समय-समय पर वार्ताएँ भी किया करते थे। इन वार्ताओं में वे विश्व की घटनाओं पर विहंगम दृष्टि डालते हुए शिक्षा में छात्रों के दायित्व को स्पष्ट करते रहे, जिसके माध्यम से अभिनव मानव का निर्माण किया जा सकता है। वास्तविक शिक्षा का स्वरूप क्या है? बालक क्यों शिक्षित होना चाहते हैं? सत्य क्या है? सौन्दर्य क्या है? धार्मिक एवं वैज्ञानिक मन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? वास्तविक ध्यान क्या है? स्वतंत्रता में बच्चों का प्रज्ञा-प्रस्फुटन कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त शिक्षा संबंधी अन्य विषयों पर भी वे छात्रों से गंभीर वार्ताएँ किया करते थे। सम्पूर्ण विश्व में दी जाने वाली शिक्षा पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए आपका कहना है कि वास्तविक शिक्षा क्या है और बच्चों को किस प्रकार शिक्षित किया जाय कि वे जीवन को आंशिक रूप से नहीं, अपितु समग्र रूप से उसकी गहराई के साथ समझ सकें। सामान्यतया तो शिक्षा के नाम पर विश्व के समस्त देशों में अपनी परंपराओं, संस्कृति, धार्मिक एवं प्रचलित मूल्यों के अनुरूप बालकों को एक ढाँचे में ढालने का प्रयास किया जा रहा है, जो कि वास्तविक शिक्षा नहीं है। वास्तविक शिक्षा क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए आपका कहना है कि :—

शिक्षा केवल पुस्तकों से सीखना, किन्हीं तथ्यों को कण्ठस्थ करना मात्र नहीं है; यह सीखना भी शिक्षा है कि अवलोकन कैसे किया जाय। पुस्तकें जो कह रही हैं, उसे कैसे सुना जाय कि जो वे कह रही हैं वह सच है अथवा झूठ। यह सब शिक्षा का ही अंग है। परीक्षाएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास करना, कोई डिग्री एवं पद प्राप्त करना, विवाह करना तथा सुस्थित हो जाना ही शिक्षा नहीं है, उसका यह भी अर्थ है कि हम इस योग्य बनें कि पक्षियों के कलरव को सुन सकें, आकाश को देख सकें तथा उनके साथ अनुभव कर सकें, उनका वास्तव में अपरोक्ष रूप से साक्षात् कर सकें।"[1]

समाज व्यक्तियों का जोड़ है। व्यक्ति वास्तविक है जबकि समाज एक कल्पना है। हम विश्व में कहीं भी जाँय तो हमारी भेंट व्यक्तियों से ही होती है। व्यक्तियों के ही अपने दुःख-दर्द, चिन्ताएँ होती हैं, हिंसक घटनाओं में व्यक्तियों का ही संहार होता है। व्यक्ति के अनुरूप ही समाज का निर्माण होता है, हिंसक व्यक्तियों से हिंसक समाज का ही निर्माण होगा। अतः हमें अपने नूतन विश्व का निर्माण करने के लिए नयी दृष्टि अपनानी होगी। हमें अपने सोचने-समझने तथा अवलोकन की क्रिया में नवीनता ले आनी होगी और ऐसी दृष्टि वास्तविक शिक्षा के माध्यम से ही उत्पन्न की जा सकती है। आप यह देख रहे हैं कि विश्व की पर्यावरणीय व्यवस्था अत्यंत जर्जर होती जा रही है, मनुष्य प्राकृतिक सम्पदाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। जल, वायु, तथा ध्वनि-प्रदूषण के द्वारा हम विश्व का विनाश करते जा रहे हैं। जीव-जन्तुओं की भी विभिन्न उद्देश्यों से हत्याएँ की जा रही हैं। कुछ जीवों की प्रजातियाँ प्रायः लुप्त होती जा रहीं हैं। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं विकास के नाम पर जहाँ मानव-जीवन को सुखमय एवं दीर्घजीवी बनाने का प्रयास किया जा रहा है, वहीं इन प्रयासों के कुप्रभाव भी होते देखे जा सकते हैं। मनुष्य के अन्दर अवलोकन की क्षमता का ह्रास होता जा रहा है, उसकी संवेदनशीलता कमजोर पड़ती जा रही है, इसीलिए तो सूर्योदय एवं सूर्यास्त के सौन्दर्य, पक्षियों के कलरव, वृक्षों के पत्तों के बीच बहने वाली हवा की सरसराहट, झरनों के संगीत आदि के प्रति वह उदासीन होता जा रहा है। मनुष्य ने आकाश के चाँद-तारों और पहाड़ियों के अनुपम सौंदर्य का अवलोकन करना ही बन्द कर दिया है। मनुष्य-मनुष्य के बीच ईर्ष्या-द्वेष, महत्वाकांक्षा, लालच, हिंसा आदि की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है, जिसके कारण

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्धों की संभावनाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। विश्व में होने वाली घटनाओं की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"जैसे-जैसे आप बड़े होते हैं, दुर्भाग्य से सुनने का, देखने का, अवबोध समाप्त होता जाता है, क्योंकि आपकी अपनी चिंताएँ होती हैं, आप और अधिक धन, बढ़ियाँ कार, अधिक अथवा कम संतान चाहते हैं। आप ईर्ष्यालु, महत्वाकांक्षी, लालची तथा द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार आप पृथ्वी के सौंदर्य का बोध खो देते हैं। परन्तु यदि आप विचार करना, निरीक्षण करना, सीखना आरम्भ करें—सीखना पुस्तकों से ही नहीं वरन् विश्व में जो चारों ओर हो रहा है उसे देखकर—तो आप एक ऐसे भिन्न प्रकार के मनुष्य के रूप में विकसित हो सकते हैं, जो सतर्क है, जिसमें स्नेह है, जो लोगों से प्रेम करता है। यदि आप इस प्रकार से रहें तो संभवतः आपको सच्चा धार्मिक जीवन प्राप्त हो सकता है।"[1]

सम्यक् शिक्षा बालक को समग्र अवलोकन के लिए प्रेरित करती है। समग्र अवलोकन का अर्थ है कि भीतर एवं बाहर जो भी घटित हो रहा है, उसका जैसे का तैसे साक्षात्कार करें और वास्तविकता को समझें। जब हम किसी चीज को पूर्णरूपेण उसकी गहराई तक समझ लेते हैं तो हम उससे मुक्त हो जाते हैं। मुक्ति का शायद इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। जब हम अपने से स्वयं के बारे में सीखते हैं तो उससे प्रज्ञा का जन्म होता है जो समग्र अवलोकन से ही संभव है। विश्व में व्याप्त कठोरता, उदासीनता तथा क्रूरता आदि में मौलिक परिवर्तन के लिए हमें स्वयं अपने को बदलना होगा। परन्तु हमारी मानसिकता सदैव ऐसी रही है कि हम स्वयं को छोड़कर अन्य प्रत्येक को बदलने की आशा रखते हैं, क्योंकि हम यह मान बैठे हैं कि हम तो ठीक ही हैं, यह अन्य लोगों के कारण ही समाज में भ्रष्टता व्याप्त है। मजे की बात यह है कि ऐसा प्रायः सभी लोग सोचते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हम स्वयं को बदलना ही नहीं चाहते, हम तो

1. शिक्षा संवाद, पृ० 2–3.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही आशा करते हैं कि दूसरे बदलें परन्तु, हम अपनी सारी पाशविकता के साथ जैसे के तैसे बने रहें। नहीं, यह कदम हमें स्वयं से ही उठाना होगा, यही परिवर्तन के लिए सबसे सरल उपाय है। परन्तु एक लालची व्यक्ति जब लालचमुक्त होने के लिए सिद्धान्तों का सहारा लेने लगता है कि हमें "लालची नहीं होना चाहिए" तो वह लालच से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। लालच से मुक्त होना तथा लालची न होने का प्रयत्न करना, दोनों पूर्णतः भिन्न चीजें हैं। यदि हमें यह स्पष्ट होता है कि मैं लालची हूँ तो उसके कारणों का गहराई से पता लगाना होगा। यदि हम लालच के मूल कारणों का पता लगाकर उन्हें समझ लेते हैं तो यह समझ ही हमें लालच से मुक्त कर देती है। इस संबंध में छात्रों को अपने सुझाव प्रस्तुत करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"मेरा यह सुझाव है कि आज से आप पता लगायें कि पूर्णतया भिन्न प्रकार से कैसे रहा जा सकता है, परन्तु यह है कठिन, क्योंकि जहाँ तक मैं समझता हूँ, हममें से अधिकांश व्यक्ति एक सरल जीवन-पद्धति जीना चाहते हैं। जो दूसरे व्यक्ति कहते है, जो दूसरे व्यक्ति करते हैं, हम उसी को दोहराना तथा उसी का अनुगमन करना चाहते हैं, क्योंकि वही जीवन की सर्वाधिक सरल विधि है, अर्थात् किसी पुराने अथवा किसी नवीन प्रारूप के अनुरूप बनना। हमें इसका पता लगाना है कि कभी भी अनुरूप न बनने का एवं भय-विहीन जीवन जीने का क्या अर्थ है। यह जीवन आपका है, कोई पुस्तक, कोई भी गुरु या अन्य कोई आपको सिखाने नहीं जा रहा है। आपको स्वयं अपने से अर्जित करना है न कि पुस्तकों से। अपने विषय में सीखने के लिए बहुत पड़ा है। वह एक अंतहीन वस्तु, वह एक मोहक वस्तु है और जब आप अपने से अपने विषय में सीखते हैं तो उस सीखने से प्रज्ञा आती है। तब आप एक सर्वाधिक अनुपम, सुखी, सुन्दर जीवन जी सकते हैं।"[1]

मानव-मन की ऐसी केवल दो ही अवस्थाएँ हैं, जिनका कोई महत्व हो सकता, वह है सच्ची धार्मिक भावना एवं सच्चा वैज्ञानिक मन।

1. शिक्षा संवाद, पृ० 5.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त मन में उठने वाली अन्य प्रत्येक क्रियाएँ विनाशकारी, कष्टप्रद, भ्रान्ति तथा दुःख की ओर ले जाती हैं। सच्चा धार्मिक मन, मन की वह अवस्था है, जिसमें किसी सम्प्रदाय, वर्ग, क्रिया-काण्ड तथा रूढ़िवादी प्रवृत्ति में वह किसी प्रकार का विश्वास नहीं करता। सच्चा धार्मिक मन तो पूर्णतः अकेला, अप्रतिबद्ध और विस्फोटक होता है। ऐसा मन अद्भुत रूप से नमनीय एवं सूक्ष्म होता है। ऐसा ही मन उस अपरिमेय का अनुभव कर सकता है जिसे सत्य या ईश्वर कहा जाता है। सच्चा वैज्ञानिक मन बड़ा ही तथ्यनिष्ठ होता है। अन्वेषण ही उसकी दृष्टि एवं ध्येय होता है, वह प्रत्येक वस्तु को उसी रूप में देखता है जिस रूप में वास्तव में वह वस्तु होती है। ऐसे मन का पूर्वाग्रह से कुछ लेना-देना नहीं होता। ऐसा मन तथ्य से तथ्य पर जाता है। परन्तु ऐसा मन जो राष्ट्र, सम्प्रदाय एवं परंपराओं से बोझिल होता है वह वैज्ञानिक खोजों का दुरुपयोग करता है, जैसा कि आजकल विश्व में हो रहा है। सच्चा मनुष्य तो वही है जो धार्मिक एवं वैज्ञानिक दोनों ही मन को मिलाकर अपने अन्दर बिना किसी अन्तर्विरोध के सामंजस्य स्थापित कर लेता है। शिक्षा ऐसी ही मानसिक अवस्था प्राप्त करने में हमारी सहायता करती है।

धार्मिक होना फिर भी उसके साथ-साथ एक स्पष्ट एवं निश्चित वैज्ञानिक मन का होना, अर्थात् एक ऐसे मन का होना जिसे किसी प्रकार का भय नहीं है, जो स्वयं अपनी सुरक्षा से अपनी आकांक्षाओं से निरपेक्ष है, बड़ा ही कठिन है। बिना अपने को जाने अर्थात् अपने शरीर, अपने मन, अपने संवेगों को जाने बिना, बिना यह जाने कि मन कैसे कार्य करता है, कैसे विचार कार्य करते हैं, हमारा मन धार्मिक नहीं हो सकता। इस सबसे परे जाने के लिए, इस सब को अनावृत्त करने के लिए हमें एक ऐसे वैज्ञानिक मन से उसे देखना होता है जो निश्चित, स्पष्ट एवं पूर्वाग्रह-विहीन हो। निन्दा या स्तुति करने वाला मन स्पष्ट नहीं होता। धार्मिक एवं वैज्ञानिक सामंजस्य प्राप्त मन वाले व्यक्ति को ही हम सभ्य मनुष्य कहते हैं ऐसे ही मनुष्य के हृदय में करुणा का निवास होता है। ऐसे मन की गुणवत्ता को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सच्चा मनुष्य वही है जिसमें वैज्ञानिक भावना तथा सच्ची धार्मिक भावना साथ-साथ रहती है। तभी मनुष्य एक अच्छे विश्व का सर्जन करेंगे—यह विश्व न तो साम्यवादी का होगा न तो पूँजीवादी का होगा और न तो होगा ब्राह्मण अथवा रोमन कैथोलिक का। वास्तव में सच्चा ब्राह्मण वही व्यक्ति है जिसका कोई धार्मिक सम्प्रदाय नहीं होता, जिसका कोई वर्ग नहीं होता, जिसका कोई सत्ताधिकार नहीं होता, जिसकी समाज में कोई पद सत्ता नहीं होती। वह सच्चा ब्राह्मण है जो वैज्ञानिक तथा धार्मिक दोनों मन को मिलता है और अपने अन्दर बिना किसी अन्तर्विरोध के सामंजस्यपूर्ण है। वही नया मानव है और मेरे विचार से शिक्षा का प्रयोजन इसी नवीन मन का सर्जन करना है, जो कि विस्फोटक होता है और जो समाज द्वारा स्थापित प्रारूप के अनुरूप नहीं बनता।"[1]

बुद्धि एवं ज्ञान में बड़ा अन्तर होता है। बुद्धि प्रत्यक्ष अवबोध की क्षमता होती है, जबकि ज्ञान जानकारियों का संग्रह होता है। बुद्धि उस मन का लक्षण है जो बड़ा ही संवेदनशील सतर्क एवं सजग होता है। बुद्धि में अप्रतिबद्ध होकर वस्तुनिष्ठ रूप से सोचने-समझने तथा स्वस्थ चिंतन करने की क्षमता होती है, जबकि ज्ञान विभिन्न प्रकार के अनुभवों, खोजों तथा परंपराओं से प्राप्त होने वाली जानकारियों का संग्रह होता है। बुद्धि ज्ञान का उपयोग एक यंत्र की भाँति करती है, बुद्धि बाह्य एवं अभ्यंतर की घटनाओं के प्रति सतर्क होती है। बुद्धि समष्टि के सौंदर्य को बड़ी सूक्ष्मता से अवलोकन करने में समर्थ होती है। यदि आप बाह्य एवं अभ्यंतर में होने वाले प्रत्येक स्पन्दन के प्रति जागरूक है तो क्रिया तत्काल होती है जो कि बुद्धि की सम्यक् क्रिया है। ऐसी बुद्धि जागृत करने के लिए कृष्णमूर्ति जी हमें किसी विधि-विधान में जाने के लिए नहीं कहते, अपितु उनका कहना है कि :—

"सबसे पहले आप जागरूक हों, पृथ्वी के सौंदर्य के प्रति जागरूक हों, वृक्षों के, रंग के, छायाओं के, प्रकाश की गहराई के प्रति जागरूक हों, लहराते वृक्षों के, पक्षियों के सौन्दर्य को देखें, अपने चारो ओर जो कुछ है उसके प्रति जागरूक हों, तब अपने अन्दर प्रवेश करें, पता

1. शिक्षा संवाद, पृ० 10.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगायें, अपने प्रति जागरूक हों, उसके प्रति जागरूक हों कि अपने मित्रों के साथ अपने संबंध में आप कैसी प्रतिक्रिया करते हैं, इसी सबसे बुद्धि आती है।"[1]

कृष्णमूर्ति जी समय-समय पर छात्रों एवं अध्यापकों को सामूहिक ध्यान भी करवाया करते थे। ध्यान के विषय में आपका कहना है कि :—

"ध्यान के विषय में सीखने से पहले आपको देखना होता है कि आपका मन कैसे कार्य कर रहा है। आपको अवलोकन करना होता है ठीक उसी प्रकार जैसे आप दीवार को पार करती हुई छिपकली को देखते हैं। आप उसके चारो पैरों को देखते हैं, कैसे वह दीवार से चिपकी रहती है और जब आप यह सब देख रहे होते हैं, तब आपको उसकी सभी गति विधियाँ दिखाई देती हैं। इसी प्रकार आप अपने विचार-क्रिया का अवलोकन करें। उसका संशोधन न करें। उसका दमन न करें। "यह सब बहुत कठिन है" ऐसा न कहें, केवल अवलोकन करें अभी, इसी समय।

सर्व प्रथम पूर्णतया स्थिर बैठें। आराम से बैठें, पालथी मार लें, बिल्कुल स्थिर बैठें, अपनी आँखें बन्द कर लें और देखें कि आपकी आँखें इधर-उधर न घूमें। समझे ? आपकी पुतलियाँ घूमेंगी ही, उन्हें पूर्णतया शांत रखें, खेल के लिए ही सही। तब, जब आप पूर्णतया शांत बैठे हैं, पता लगायें कि आपका विचार क्या कर रहा है। उसी तरह उसका अवलोकन करें जैसे आपने छिपकली का अवलोकन किया था। विचार का अवलोकन करें कि कैसे एक विचार के पीछे दूसरा विचार दौड़ता है। इस प्रकार आपने सीखना, निरीक्षण करना आरंभ किया।"[2]

एक अन्य वार्ता के अंत में ध्यान के लिए निर्देशित करते हुए आप का कहना है कि "सबसे पहले पूर्णतया शान्ति से, सुविधापूर्वक बैठें, बिल्कुल शान्ति से, विश्राम से बैठें। मैं आपको दिखाउंगा। अब,

1. शिक्षा संवाद, पृ० 18.
2. शिक्षा संवाद, पृ० 8.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृक्षों को, पहाड़ियों को देखें, उनके रंग के गुण को देखें, निरीक्षण करें। मुझे सुने नहीं। उन वृक्षों को, पीले पड़ते हुए वृक्षों को, उस अम्लिका वृक्षों को देखें, अवलोकन करें और तब उस बोग न बेलियों की लता की ओर देखें। अपने दिमाग से नहीं वरन् अपनी आँखों से देखें। उन तमाम रंगों को, धरती के पहाड़ियों के चट्टानों के आकार को, उनकी परछाई को देखने के बाद फिर बाहर से अन्दर की ओर चलें और अपनी आँख बन्दकर लें। आपने बाहर की वस्तुओं को देखना बन्द कर दिया और अब अपनी बंद आँख से आपके अन्दर जो हो रहा है, उसे आप देख सकते हैं। जो अन्दर हो रहा है उसका निरीक्षण करें, सोचें नहीं वरन् केवल अवलोकन करें, अपनी आँख की पुतलियों को घुमायें नहीं, बस उन्हें बिल्कुल, पूर्णतया शांत रक्खें, क्योंकि अब देखने के लिए कुछ नहीं है। आपने अपने चारो ओर की वस्तुओं को देख लिया है, और अब आप देख रहे हैं कि आपके मन के अन्दर क्या हो रहा है, और यह देखने के लिए कि आपके मन में क्या हो रहा है, आपको अभ्यंतर में बड़ा शांत होना होगा। और जब आप यह करते हैं तो क्या आप जानते हैं कि आपको क्या होता है ? आप बड़े संवेदन-शील हो जाते हैं, बाह्य तथा अभ्यंतर की वस्तुओं के प्रति बड़े सतर्क हो जाते हैं, तब आपको ज्ञात होता है कि जो बाह्य है वही अभ्यन्तर है, तब आप को पता चलता है कि द्रष्टा ही दृश्य होता है।"[1]

सीखने के लिए स्वतंत्रा और व्यवस्था दोनों की आवश्यकता होती है। व्यवस्था के बिना स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं होता, वे दोनों साथ-साथ चलती हैं। यदि आप व्यवस्थित नहीं हो सकते तो आप स्वतंत्र भी नहीं हो सकते। स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि आपको मनमानी करने की छूट मिल गई है। यदि आप यह समझते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ यह हुआ कि मैं जो चाहूँ वही करूँ अर्थात् सड़क पर बाएँ चलूँ या दाएँ अथवा मध्य में; जब चाहूँ भोजन करूँ और जब चाहूँ कक्षा में जाऊँ, और जब चाहूँ कक्षा के भीतर या बाहर शोर मचाऊँ, तो स्पष्ट है कि अपने इन सब कार्यों से आप जीवन के हर क्षेत्र में अव्यवस्था ही फैलाएँगे। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं :—

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 18,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"स्वतंत्रता के लिए अत्यधिक सम्यक् बुद्धि की, संवेदनशीलता की तथा अवबोध की आवश्यकता होती है और फिर भी यह अत्यंत आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी संस्कृति का क्यों न हो, स्वतंत्र हो। इस प्रकार आप देखते हैं कि स्वतंत्रता बिना व्यवस्था के नहीं हो सकती।"[1]

वास्तव में स्वतंत्रता में ही प्रेम का पुष्प खिलता है। स्वतंत्रता एवं प्रेम निष्प्रयोजन होते हैं। जहाँ प्रयोजन है वहाँ न तो कोई स्वतंत्रता है न ही प्रेम। प्रयोजन तो एक प्रकार का बंधन है जबकि निष्प्रयोजन मुक्ति है, स्वतंत्रता है। यदि हम अपने माता-पिता या अभिभावक को इसलिए प्रेम करते हैं कि वे हमारे लिए जीवन की सभी सुविधाएँ जुटाते हैं तो यह वास्तविक प्रेम नहीं है और न ही इसमें किसी प्रकार की स्वतंत्रता है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"स्वतंत्रता का अस्तित्व केवल तभी होता है जब कोई प्रयोजन नहीं होता। आप किसी से इसलिए प्रेम करते हैं कि वह आपको भोजन अथवा कपड़ा अथवा मकान देता है। उस अवस्था में वह प्रेम नहीं है।"[2]

स्वतंत्रता के लिए व्यवस्था की आवश्यकता होती है और व्यवस्था एक प्रकार का अनुशासन है। अतः स्वतंत्रता का अनुशासन से सीधा संबंध है। चूँकि कृष्णमूर्ति जी अनुशासन शब्द के प्रयोग से बचना चाहते हैं इसलिए वे अनुशासन शब्द के स्थान पर व्यवस्था शब्द का प्रयोग करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। उनका कहना है कि :—

"मैं सावधानी से स्पष्ट कर चुका हूँ कि स्वतंत्रता बिना व्यवस्था के नहीं आ सकती और व्यवस्था ही अनुशासन है। मैं अनुशासन शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहता हूँ क्योंकि वह विभिन्न प्रकार के अर्थों से लदा हुआ है। अनुशासन का अर्थ अनुकूलन, अनुकृति, आज्ञा-पालन है। इसका अर्थ यह भी है कि जो तुम्हें बताया जाता है, वह करो। क्या ऐसा नहीं है। परन्तु आप यदि स्वतंत्र होना चाहते हैं और प्रत्येक

1. शिक्षा संवाद, पृ० 21.
2. वही, पृ० 24.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य को पूर्णतया स्वतंत्र होना ही चाहिए अन्यथा वे पुष्पित नहीं हो पायेंगे, अन्यथा वे वास्तविक मनुष्य नहीं बन सकते हैं, तो आपको स्वयं अपने लिए यह पता लगाना होगा कि व्यवस्थित होने का क्या तात्पर्य है। इन सबकी खोज ही अनुशासन है।"[1]

यदि छात्र दूसरों का ध्यान रखते हुए, अपने शिक्षक आदि को ध्यान से सुनते हुए, समय का पालन करते हुए, नियमित कक्षा में जाते हुए, अध्ययन करते हुए, इतने सजीव हों कि हर वस्तु सही ढंग से व्यवस्थित हो तो यही अनुशासन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुशासन से व्यवस्था आती है, व्यवस्था से स्वतंत्रता का जन्म होता है और स्वतंत्रता में ही अच्छाई, प्रेम एवं प्रज्ञा का प्रस्फुटन होता है। स्वतंत्रता में ही पक्षी उड़ सकता है, बीज अंकुरित होता है, मनुष्य प्रज्ञा को उपलब्ध होता है अर्थात् स्वतंत्रता ही जीवन है।

तथाकथित समाज ही व्यक्ति की स्वतंत्रता का मुख्य बाधक तत्त्व है। लोग नहीं चाहते कि व्यक्ति लीक से हटे, क्योंकि एक स्वतंत्र व्यक्ति विचारों से ही नहीं वरन् लालच, महत्वाकांक्षा, द्वेष, क्रूरता आदि सभी पाशविकताओं से मुक्त हो जाता है, जो समाज के लिए आपत्तिजनक मालूम होता है। कोई भी व्यक्ति जब महत्वाकांक्षी होता है या वह राग एवं द्वेष से युक्त होता है तो वह समाज का ही अंग होता है, क्योंकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति पाशविकता में बँधा है। जब कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करता है, तो वह अपने को समाज से अलग कर लेता है, वह तब समाज का अंग नहीं रह जाता, यही कारण है कि समाज ऐसे लोगों का विरोध करता है। स्वतंत्र व्यक्ति समाज के सामान्य व्यक्ति से पूर्णतः भिन्न होता है, इसलिए समाज ऐसे व्यक्ति की या तो पूजा करने लगता है या तो उसकी हत्या कर देता है अथवा उसके प्रति उदासीन हो जाता है। स्वतंत्रता निष्प्रयोजन होती है, उसे किसी लाभ की भाषा के रूप में नहीं सोचा जा सकता है। स्वतंत्रता का अस्तित्व ही तब होता है, जब हम निष्प्रयोजन होते हैं और यही प्रेम की अवस्था है।

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 22.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज का मानव संवेदनहीन होता जा रहा है। जबकि संवेदनशील होना अति आवश्यक है। तन एवं मन की संवेदनशीलता के साथ-साथ जो व्यक्ति अपने पर्यावरण, अपने विचार, अपनी प्रत्येक गतिविधि के प्रति जागरूक है और जिस व्यक्ति में एक सामंजस्यपूर्ण समग्रता है, वही संवेदनशील है। व्यापक सौंदर्य के अवलोकन के लिए संवेदनशीलता अति आवश्यक है। जीवन के एक अंग मात्र से लगाव रखना संवेदनशीलता का अभाव है जो एक छिछले एवं कष्टप्रद जीवन को उत्पन्न करता है। वह उचित प्रकार की शिक्षा ही है जो समस्त व्यक्तित्व एवं मन का संवर्द्धन करती है। वह मन एवं हृदय को एक गहराई प्रदान करती है। जो व्यक्ति जीवन के एक अंश मात्र में न फँस कर जीवन की समग्र सरिता में प्रवाहित होता है, वह अप्रतिम सौन्दर्य का बोध कर सकता है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि विद्यालयों में शिक्षक या धर्माचार्य या राजनीतिज्ञ जब किन्हीं विशेष अवसरों पर छात्रों को संबोधित करते हैं तो वे सदा इस बात की चर्चा करते हैं कि आप ही लोग देश के भावी कर्णधार हैं। आप लोगों के ऊपर ही देश का भविष्य निर्भर करता है। आप के द्वारा ही नूतन समाज का निर्माण होना है, आप लोग ही देश के रक्षक हैं, आप लोग ही देश के बड़े-बड़े पदों पर प्रतिष्ठित होने वाले हैं। उनका यह सब कहने का मुख्य तात्पर्य यह है कि बालक ऐसी शिक्षा ग्रहण करें जिसके द्वारा वे परंपराओं के अनुकूल बन सकें। ऐसे लोग यह नहीं चाहते कि बालकों में परंपराओं एवं लीकों से हटकर सोचने समझने की क्षमता जाग्रत हो। क्योंकि सोच-समझ वाला व्यक्ति बड़ा ही क्रांतिकारी होता है। वह समाज की रूढ़ियों, परंपराओं आदि में विश्वास नहीं करता। परन्तु ये राजनीतिज्ञ तथा धर्माचार्य यह चाहते हैं कि बालक सत्ताधिकारियों तथा आप्त व्यक्तियों को स्वीकार करे, उनमें विश्वास करे, इस प्रकार वे अपने भयों को बालकों तक पहुँचाते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि भय से जकड़ा हुआ मन कभी भी सीखने के योग्य नहीं होता, ऐसा मन कभी भी तरोताजा नहीं रहता। भय वस्तुतः आज्ञापालन तथा अधिकार का सारतत्त्व है। माता, पिता, राजनीतिज्ञ, धर्माचार्य तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकारें सभी आज्ञा पालन चाहती हैं, जिसके लिए भय आवश्यक है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"मस्तिष्क जब आज्ञाकारिता के किसी प्रारूप के अनुरूप हो रहा है तो वह ताजगी के योग्य नहीं रहता और न तो वह सरलता एवं स्पष्टता से सोच ही सकता है।"[1]

हमारे सभी भयों का केन्द्र बिन्दु मृत्यु का भय मनुष्य की एक अनिवार्यता बन गयी है। प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से भयभीत है। बालक, युवा तथा वृद्ध सभी लोग मृत्य के भय से समान रूप से भयभीत हैं। कृष्णमूर्ति जी के अनुसार भय एक प्रकार की अज्ञानता है। जब हम किसी वस्तु का गहराई से अनुभव कर लेते हैं, तो हम उससे उत्पन्न होने वाले भय से मुक्त हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि कोई भी व्यक्ति मृत्यु के भय से कैसे मुक्त हो ? यदि अनुभव ही मुक्त करता है तो मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिए मृत्यु का अनुभव होना आवश्यक है और यदि हम मर ही गए तो मृत्यु के बाद उस अनुभव का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

'मृत्यु दो प्रकार की होती है-शारीरिक मृत्यु तथा विचारणा की मृत्यु। शरीर अनिवार्यतः मृत्यु को प्राप्त करने जा रहा है, जैसे एक पेन्सिल लिखते-लिखते घिसकर समाप्त हो जाती है। डाक्टर नयी प्रकार की दवाओं का आविष्कार कर सकते हैं, अस्सी वर्ष के स्थान पर एक सौ बीस वर्ष जी सकते हैं, परन्तु मृत्यु फिर भी होगी। भौतिक शरीर का अंत होता ही है। हम उससे भयभीत नहीं हैं। हम जिससे भयभीत हैं, वह है विचारणा का अंत होना, "मैं" का अंत होना, "मैं" इतने वर्ष तक जीवित रहाँ है, "मैं" जिसने इतना धन कमाया है, उसका परिवार है, उसके बच्चे हैं, वह महत्त्वपूर्ण बनना चाहता है, वह और सम्पत्ति एवं धन प्राप्त करना चाहता है। ऐसे "मैं" की मृत्यु हो रही है, जिससे मैं भयभीत हूँ। क्या आप इन

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 32,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के अन्तर को समझते हैं ? भौतिक मृत्यु और "मैं" की मृत्यु में अन्तर।"[1]

शिक्षा से मनुष्य का आन्तरिक परिवर्तन होता है। यदि हमारे हृदय में प्रेम, स्नेह, दयालुता उदारता और करुणा नहीं है तो वास्तव में हमारी स्थिति पशु से भी गयी बीती होती है। उस अवस्था में हम एक ऐसे विश्व की संरचना में संलग्न होते हैं जो विनाशकारी होता है। जब व्यक्ति का मन एवं हृदय खुला होता है, जब वह भयभीत नहीं होता, जब वह हिंसक नहीं होता, तभी वह जागरूक हो सकता है, तभी वह आनन्द एवं अद्भुत उल्लास से भरा होता है, जिसका बहुत कम लोगों को ज्ञान होता है। मानव मन की ऐसी अवस्था उत्पन्न करना शिक्षा का ही कार्य है।

विश्व की घटनाओं के अवलोकन से ऐसा लगता है कि हिंसा हमारे दैनिक जीवन का एक आवश्यक अंग बन चुकी है। हिंसा हमारे जीवन की शैली बन गई है। हिंसा केवल स्थूल ही नहीं होती, वह सूक्ष्म भी होती है। दूसरे की हत्या करना, चोट पहुँचाना तथा जान-बूझ कर या बिना सोचे-समझे घृणा एवं द्वेष से भरी क्रूर बातें करना, यह तो स्थूल या भौतिक हिंसा के स्वरूप हैं, जबकि किसी की आलोचना करना, किसी को पसन्द न करना, घृणा करना या अपने विचार धाराओं के अनुकूल दूसरों को बनने के लिए बाध्य करना, सूक्ष्म या आंतरिक हिंसा के स्वरूप हैं। हम जाने या अनजाने बराबर हिंसा करते रहते हैं। धर्म, सिद्धान्त, राष्ट्र, भाषा, सुधार एवं परिवर्तन आदि के नाम पर चलने वाले सभी क्रिया-कलापों में हिंसा विद्यमान होती है। प्रत्येक समाज, उच्च, मध्य एवं निम्न इन तीन प्रकार की श्रेणियों में बँटा हुआ है। उच्च वर्ग में अभिजात, धनी और चतुर लोग होते हैं, दूसरा मध्यम वर्ग होता है, जो सदा कार्य करते रहते हैं तथा तीसरा गरीब दरिद्र एवं श्रमिकों का वर्ग होता हैं। समाज के प्रत्येक वर्ग में सदा संघर्ष छिड़ा रहता है। ये वर्ग एक दूसरे से भी आप में लड़ते रहते हैं। मध्यम वर्ग क्रान्ति करके चोटी पर पहुँचना चाहता है। अतः उच्च वर्ग अपनी पद-प्रतिष्ठा तथा धन आदि बचाने के लिए मध्यम वर्गों से

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 36,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्षरत होते हैं। निम्न वर्ग मध्यम वर्ग में पहुँचना चाहता है। अतः वहाँ भी तनाव एवं हिंसा अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त परिवार में भी विभिन्न रूपों में हिंसा व्याप्त है। यदि हम हिंसा के विभिन्न स्वरूपों का बड़ी सावधानी से अवलोकन करें, दुर्व्यवस्था तथा विनाश की समस्त प्रक्रिया को समझें, तो उस अवबोध तथा सावधानी से एक नितान्त भिन्न प्रकार की व्यवस्था जन्म ले सकती है, और यह व्यवस्था एक अहिंसक समाज का निर्माण कर सकती है। शिक्षित होने का यह भी अर्थ है कि आप समाज में व्याप्त हिंसा का गहराई से अवलोकन करें और हिंसा के विभिन्न आयामों को समझें, तो यह समझ ही हमें अहिंसक बनने में सहायक सिद्ध होगी। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"हिंसा को न समझने का अर्थ है वास्तव में मूर्ख बने रहना, बुद्धि एवं संस्कृति से विहीन होना। जीवन बहुत विशाल है और उसमें केवल अपने लिए एक छोटी सी माँद बना लेना तथा एक दूसरे से लड़ते हुए उसमें बने रहना, जीवित रहना नहीं है। यह सब आप ही पर है। इन सब वस्तुओं के विषय में आपको जानना होगा। आपको सोच-विचार कर यह निश्चय करना होगा कि आपको हिंसा का मार्ग चुनना है अथवा समाज के विरुद्ध खड़े होना है।"[1]

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक एवं गंभीर होना चाहिए। एक गंभीर व्यक्ति अपनी छोटी-बड़ी समस्याओं का निदान स्वयं ही ढूंढ़ लेता है। यह कोई चेहरे बनाने का मामला नहीं है। सामान्यतया हम ऐसे व्यक्ति को गंभीर मानते हैं जो सदा मुंह लटकाये रहता हो, जिसके चेहरे पर कभी मुस्कराहट नहीं होती या वह कभी हँसता न हो, वह सौंदर्य के प्रति उदासीन हो अथवा किसी सिद्धान्त को कसकर पकड़े हुए हो, भले ही उस सिद्धान्त से मनुष्यता को गंभीर खतरा क्यों न हो। गंभीरता के लिए यह सब आवश्यक नहीं है, आप हँसते हुए, मुस्कराते हुए संगीत, नृत्य तथा सौन्दर्य आदि

---

1. शिक्षा संवाद, पृ० 40–41,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अवलोकन करते हुए भी गंभीर रह सकते हैं। गंभीरता के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"गंभीरता का लक्षण यह है कि आप किसी विचार किसी अनुभूति का उसके अंत तक अनुशीलन करे, बिना किसी दूसरे तत्त्व से निर्दिष्ट हुए, उसके अन्त तक जायें चाहे उस प्रक्रिया में आपको भूखों मरना पड़े, चाहे आप अपनी समस्त सम्पत्ति, अपना सब कुछ खो दें, किसी विचार के अंत तक पहुँचना ही गंभीर होना है।"[1]

जीवन द्वैत से मिलकर बना है। उसमें एक को पकड़ना तथा दूसरे का त्याग करना विवेकपूर्ण व्यक्ति का लक्षण नहीं है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि जीवन में सुख भी है, दुःख भी है। जीवन में मृत्यु भी है, जन्म भी है। यहाँ प्रकाश भी है और अंधकार भी, दिन भी है और रात्रि भी, जाड़ा भी है और गर्मी भी, स्त्री भी है और पुरुष भी, यहाँ सम्पत्ति भी है और दरिद्रता भी। यह द्वैत जीवन का स्वभाव है। परन्तु सामान्यतया हम अपने सुखों से या सुख देने बाली वस्तुओं से सदा चिपके रहना चाहते हैं और इसलिए उनके प्रति आसक्त हो जाते हैं। वास्तविक शिक्षा वह है जो हमें इस प्रकार शिक्षित करे कि हम न तो जीवन से आसक्त हों न ही अनासक्त हों वरन् तथ्यों को देख-समझ कर द्वैत से ऊपर उठ जाय। जहाँ तथ्य है वहीं आनन्द है, वही प्रेम है।

अनगढ़ पत्थरों को तराश कर जब कोई शिल्पी उसे किसी देवी या देवता की प्रतिमा का स्वरूप प्रदान कर देता है तो हम उसे किसी मंदिर के गर्भ गृह में प्रतिष्ठित करके उसकी पूजा आरंभ कर देते हैं। प्रतिदिन के कर्म काण्डों द्वारा उस प्रतिमा के प्रति हमारी आस्था सुदृढ़ होने लगती है। जब कोई उस प्रतिमा को किसी प्रकार से चोट पहुँचाता है या उसका अपमान करता है तो हम धर्म की दुहाई देने लगते हैं और मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं। इस बाह्य प्रतिमा के अतिरिक्त, हम दिन-प्रति-दिन अपने मन, विचार, अनुभव, ज्ञान तथा जीवन के संघर्षों एवं कष्टों के माध्यम से स्वयं के बारे में तथा दूसरों

---

1. वही, पृ० 43,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बारे में सूक्ष्म मानसिक प्रतिमा का भी निर्माण किया करते हैं। जब कोई व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित होता है या हम उसकी कल्पना करते हैं तो उसके बारे में हमारे द्वारा बनाई गई प्रतिमा ही सामने आकर खड़ी हो जाती है। ये प्रतिमाएँ आदमी-आदमी के बीच संघर्ष का कारण बनती हैं तथा इनकी वजह से परस्पर अच्छे संबंध बन नहीं पाते। प्रतिमा निर्माण के कारण व्यक्ति आत्म केन्द्रित हो जाता है और वह सौंदर्य का, आनन्द का तथा स्पष्ट चिंतन का बोध खो देता है। जब किसी वस्तु का बिना किसी प्रतिमा के बिना किसी शब्द के अवलोकन किया जाता है, तो वहाँ द्रष्टा एवं दृश्य का द्वैत समाप्त हो जाता है। उस अवस्था में वह जो कुछ होता है वही सत्य है। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"जब बिना किसी शब्द के, बिना किसी प्रतिमा के और एक ऐसे मन से जो पूर्णतया अवधानपूर्ण है, आप एक पुष्प को देखते हैं तो आप में पुष्प में क्या संबंध है ? क्या आपने बिना यह कहे कि यह गुलाब है, पुष्प को देखा है ? क्या आपने एक पुष्प को पूर्णतया देखा है, एक ऐसे समग्र अवधान के साथ जिसमें उस पुष्प का कोई शब्द, कोई प्रतीक कोई नामांकन न हो और इस प्रकार संपूर्ण अवधान हो ? जब तक आप ऐसा नहीं करते, आपका पुष्प से कोई संबंध नहीं होता। जब आप इस प्रकार से निरीक्षण करते हैं तब कोई मत अथवा कोई निर्णय नहीं होता। वह वही है, जो वह है।"[1]

सामान्यतया जब हम कोई कार्य करते हैं या कुछ समय के लिए शांत बैठना चाहते हैं तो इस क्रिया से हम थोड़ी देर में ऊबने लगते हैं और कभी-कभी हम अपने कार्य में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि हमें समय का पता ही नहीं चलता। ऊब एवं तल्लीनता के कारण को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"जब आप जो हैं उसे देखते हैं तो ऊब नहीं होती, ऊब केवल तभी होती है, जब आप जो देखते हैं उसे अस्वीकार कर देते हैं तथा कुछ और होना चाहते हैं। इसी प्रकार जब आप अपने अन्दर देख सकते

1. शिक्षा संवाद, पृ० 47-48,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और ठीक-ठीक देखते हैं कि आप क्या हैं तो वह देखना ऊब नहीं है। यह विलक्षण रूप से रुचिकर है क्योंकि जितना अधिक आप उसे देखते हैं उतना ही अधिक और देखना होता है। आप और गहराई में, और विस्तार में जा सकते हैं और उसका कोई अन्त नहीं है। उसमें ऊब नहीं होती। यदि आप ऐसा कर सकते हैं तो जो आप करते हैं वह वही है जिसे आप करना चाहते हैं और जब आप किसी वस्तु को करने से प्रेम करते हैं तो काल का अस्तित्व ही नहीं रहता।"[1]

कृष्णमूर्ति जी ने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि "स्वयं को जानो। अपने को जानने में ही मुक्ति है, स्वतंत्रता है।" प्रश्न यह है कि कोई कैसे अपने को जाने कि "मैं कौन हूँ ?" इस प्रश्न के उत्तर में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"जिस प्रकार आप दर्पण में अपने चेहरे को देखकर यह जानना आरंभ करते हैं कि मैं यही हूँ, उसी प्रकार स्वयं का निरीक्षण करके आप जान सकते हैं कि आप क्या हैं ? क्या आप अपने व्यवहार का निरीक्षण कर सकते हैं कि आप कैसे चलते हैं, कैसे आप बात करते हैं, कैसे आप व्यवहार करते हैं कि आप कठोर हैं अथवा क्रूर हैं अथवा उदण्ड हैं अथवा धैर्यवान हैं ? तब आप अपने को जानना आरंभ करते हैं। आप क्या कर रहे हैं, क्या सोचते हैं क्या अनुभव करते हैं, उसके दर्पण में आप अपना निरीक्षण करके अपने को जानते हैं। अनुभव करना, काम करना, सोचना–यह भी दर्पण है।"[2]

दूसरों के साथ हमारा संबंध ही व्यवहार है। लेकिन सामान्यतया हमारा व्यवहार परिस्थिति जन्य होता है। हम अपने माता-पिता, शिक्षक, नौकर, मालिक तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। परन्तु स्वाभाविक एवं वास्तविक व्यवहार परिस्थिति जन्य या व्यक्ति विशेष के अनुरूप न होकर उसका उद्‌गम हमारे अन्तर्तम से होता है। इस प्रकार के व्यवहार के लिए हमें अपने अभ्यंतर से परिचित होना होगा जो सतत परिवर्तित हो रहा है। जब हम प्रेमपूर्ण होते हैं तो हमारा व्यवहार परिस्थिति-

1. शिक्षा संवाद, पृ० 49,
2. वही, पृ० 51,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्य नहीं होता, चाहे कोई मेरे प्रति दयालु हो अथवा नहीं। स्नेहपूर्ण होना एक बड़ी कठिन बात है और बिना इसके जीवन खोखला हो जाता है। सुख-सुविधा की सम्पन्नता होते हुए भी यदि हमारे हृदय में स्नेह नहीं है तो हमारा जीवन सुगंध हीन पुष्प के समान हो जाता है। आपको इस स्नेह की अवस्था तक पहुँचाना शिक्षा का ही कार्य है। बिना प्रेम के जीवन उस बंजर भूमि के समान होता है, जो शुष्क और कठोर होती है। जिस क्षण हम स्नेह में होते हैं तो हमारा हृदय उस पृथ्वी के समान हो जाता है जो जल, वर्षा एवं सौन्दर्य से खिल जाती है। हम स्वतंत्र वास्तव में तभी होते हैं जब मात्र अपनी ही चिन्ता न करके एक ताजे मन से स्नेह की गहरी अनुभूति से आकाश, पर्वत, सरिता, पक्षियों तथा व्यक्तियों का भी अवलोकन करते हैं। जब हमारे हृदय के "प्रेम" की सरिता सूख जाती है तो हम "दायित्व", "कर्तव्य एवं बलिदान" जैसी भावनाओं से प्रेरित होकर कर्म करने को बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार के कर्मों में हमारे मन एवं हृदय के बीच सामंजस्य नहीं होता। प्रेम एक ऐसी अनुभूति है, जिसमें सौम्यता, शांति, कोमलता, सहृदयता, उदारता एवं सौन्दर्य होता है। प्रेम में न तो महत्वाकांक्षा होती है, न ही ईर्ष्या। जिस प्रेम में महत्वाकांक्षा, द्वन्द्व, लालच, ईर्ष्या, द्वेष तथा क्रोध है वह प्रेम, प्रेम ही नहीं है अपितु प्रेम का मात्र दिखावा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व

जीवन में शिक्षा की महत्ता :

सारे विश्व में मानव-मन असाधारण रूप से एकसमान है। सभी की प्रमुख अभिरुचि सुरक्षा की खोज है अथवा हम कोई महत्वपूर्ण पद पाना चाहते हैं अथवा मौज-मस्ती में समय व्यतीत करना चाहते हैं। यह बात विशेष रूप से कालेजों या विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों पर सटीक बैठती है। इसका कारण यह है कि हमारी परम्परागत शिक्षा स्वतंत्र चिंतन को अत्यधिक कठिन बना रही है। हमारी तथाकथित शिक्षा ने हमें इतना भयभीत कर दिया है कि हम अपने पड़ोसी से कुछ भिन्न न होने, समाज की संरचना के विपरीत न सोचने तथा सत्ता एवं परम्परा का झूठा सम्मान करने को विवश हो जाते हैं। वास्तविक शिक्षा हमें ऐसा सम्यक् विद्रोह सिखाती है कि हम मानवीय समस्याओं का बिना किसी पूर्वाग्रह के अनुसंधान कर सकें।

विद्रोह दो प्रकार का होता है। एक तो हिंसात्मक विद्रोह है जो स्थापित व्यवस्था के विरोध में बिना समझे-बूझे की हुई एक प्रतिक्रिया मात्र है। इस प्रकार का विद्रोह हमारी वर्तमान शिक्षा की देन है। एक दूसरे प्रकार का भी विद्रोह होता है जिसे विवेकजन्य तथा गहरा मनोवैज्ञानिक विद्रोह भी कहा जा सकता है। पहले प्रकार का विद्रोही स्थापित रूढ़ियों को अस्वीकार तो करता है, परन्तु पुनः नवीन रूढ़िवादी व्यवस्था में फँस जाता है। इस प्रकार के विद्रोह से आने वाले परिवर्तन एवं सुधार के विरुद्ध पुनः विरोध एवं सुधार की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु दूसरे प्रकार का विद्रोह मात्र प्रतिक्रिया न होकर अपने विचार और भावनाओं के प्रति सचेत होने से उत्पन्न आत्मबोध के साथ आता है जो जीवन का सही मार्गदर्शन करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि हमारे जीवन का महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि हम कोई विशेष योग्यता ग्रहण कर लें या अच्छी नौकरी प्राप्त कर लें या दूसरों पर अधिकार जमाने वाले धर्मगुरु या राजनेता हो जाँय क्योंकि यह सब विश्व मे विनाश एवं दुःख ही उत्पन्न करेगा। जीवन का महत्त्व एक ऐसी दृष्टि उत्पन्न करने में है जो हमारी भावनाओं एवं विचारों में गहरा समन्वय रखता हो। आपका कहना है कि :—

"हम बहुत अधिक शिक्षित हो सकते हैं, परन्तु यदि हमारे विचार और भावना में गहरा समन्वय नहीं है तो हमारा जीवन अपूर्ण एवं अन्तर्विरोधी होगा तथा हम भय-पीड़ित होंगे और जब तक शिक्षा के प्रति इस एकीकृत दृष्टिकोण को नहीं विकसित करती, उसका महत्त्व नहीं के समान है।"[1]

जो शिक्षा हमें समन्वित जीवन जीने की कला न सिखाकर दुःखों एवं द्वन्द्वों की शृंखला ही उत्पन्न करती है, ऐसी शिक्षा शिक्षा नहीं है। यदि तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी ज्ञान प्राप्त करने का महत्त्व विनाशकारी हो, ज्ञान का महत्त्व भ्रांति उत्पन्न करना हो तथा अस्तित्व का महत्त्व हिंसा एवं कष्ट ही है, तो किसी ऐसी उन्नति को उन्नति नहीं कहा जा सकता। प्रेम से प्रेरित होकर अपरिमित कार्य-क्षमता को उत्पन्न करने वाली शिक्षा ही महत्वपूर्ण है। महत्वाकांक्षा से प्रेरित कार्यक्षमता कठोरता को जन्म देती है, जिसका परिणाम निष्ठुर प्रतिद्वन्द्विता तथा परस्पर विनाश है, जो अन्ततोगत्वा युद्ध में ले जाता है। मात्र ज्ञान उपलब्ध करना तथा किसी क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त करना ही शिक्षा नहीं है। उचित शिक्षा समग्र जीवन एवं उसके अर्थ को समझने में हमारी सहायता करती है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :—

"जीवन को समझने का अर्थ स्वयं को समझना है और यही शिक्षा का आरंभ और अंत दोनों है।"[2]

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 3.
2. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 6.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन को बिना समन्वित रूप से समझे हमारी व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्यायें और अधिक गम्भीर तथा व्यापक होती जायेंगी। शिक्षा का लक्ष्य केवल विद्वानों तकनीशियनों तथा व्यवसाय की खोज करने वालों को ही उत्पन्न करना नहीं है, उसका लक्ष्य ऐसे एकीकृत स्त्री एवं पुरुष उत्पन्न करना है, जो भय से मुक्त हों, क्योंकि केवल ऐसे ही व्यक्तियों के बीच स्थायी शांति संभव है। जब तक हम परीक्षाओं और उपाधियों को विवेक का मापदण्ड मानने में लगे रहेंगे तथा चालाकियों से भरे मन को विकसित करते रहेंगे, तब तक महत्वपूर्ण मानवीय समस्याओं की उपेक्षा होती रहेगी। यदि शिक्षा सम्यक् बुद्धि जागृत करने की क्षमता नहीं रखती तो "जो है" उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"सम्यक् बुद्धि "जो है" उसके साक्षात्कार करने की क्षमता है तथा स्वयं और दूसरों में इस क्षमता को जगाने का अर्थ शिक्षा है।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि वास्तविक शिक्षा वह है जो स्थायी जीवन-मूल्यों की खोज में हमारी सहायता करती है। सूत्रों तथा समीकरणों से चिपके रहने, अथवा नारों को दुहराते रहने के साथ-साथ राष्ट्रीय एवं सामाजिक अवरोधों को महिमा मण्डित करने को प्रोत्साकरने वाली शिक्षा मानव-मानव के बीच विरोध उत्पन्न करती है। दुर्भाग्य से शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था हमें अधीनस्थ, यंत्रवत और घोर विचारहीन बना रही है। यद्यपि बौद्धिक रूप से वह हमें जगाती है, परन्तु आन्तरिक रूप से वह हमें अपूर्ण, कुण्ठित और सर्जनशीलता से विहीन बनाती है। आपका कहना है कि :—

"वास्तविक जीवन-मूल्यों की खोज में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का कार्य है और ये मूल्य पूर्वाग्रह विहीन अन्वेषण तथा आत्म-अवधान से ही आते हैं। शिक्षा का कार्य आत्म-अवधान की क्षमता को जागृत करना है, न कि तुष्टिकरण वाली आत्म-अभिव्यक्ति की वासना को अवसर देना।"[2]

---

1. वही, पृ० 6.
2. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 7.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था प्रणालियाँ चाहे वे शैक्षिक व्यवस्था प्रणालियाँ हों अथवा राजनैतिक, किसी रहस्यमय ढंग से नहीं बदली जा सकतीं। उनमें परिवर्तन तभी होगा जब हमारे अन्दर कोई मौलिक परिवर्तन होता है। मौलिक परिवर्तन के अभाव में प्रायः सभी प्रणालियाँ प्रायः मृत होती हैं। इसके लिए सबसे पहले व्यक्ति का महत्त्व होता है न कि व्यवस्था का। व्यवस्था व्यक्ति के लिए होती है जब तक व्यक्ति स्वयं अपनी समग्र प्रकिया को नहीं समझ लेता, तब तक कोई भी व्यवस्था विश्व में स्थायी शांति नहीं स्थापित कर सकती।

शिक्षा का सम्यक् स्वरूप :

वर्तमान शिक्षा व्यक्ति को अधिकाधिक साक्षर बनाने पर बल दे रही है। यह शिक्षा तथ्यों को कण्ठस्थ करके विद्वान् बनने तथा विषय-विशेषज्ञ बनने का संवर्द्धन कर रही है। तकनीकी विशेषज्ञता तथा वैज्ञानिक क्षमता प्राप्त करना आज की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बन गया है। ऐसी शिक्षा का इतने व्यापक पैमाने पर प्रचार एवं प्रसार होने के उपरान्त भी मानवीय समस्याएँ बढ़ती ही जा रही हैं। समाज में हिंसा, व्यभिचार, पाशविकता, क्रूरता, घृणा एवं द्वेष बढ़ते ही जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा एकांगी हो गई है। हम बाह्य वस्तुओं के बारे में तो अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् एवं विषय-विशेषज्ञ बनते जा रहे हैं परन्तु अपने स्वयं के बारे में हमारा ज्ञान लगभग शून्य है। जब तक हम अपनी समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का गहराई से अवधान करने तथा स्वयं के बारे में ज्ञान प्राप्त करके आत्मज्ञानी नहीं बन जाते, तब तक हम वास्तव में अज्ञानी ही बने रहेंगे और हमारी मानवीय समस्याएँ कम नहीं हो सकतीं। सम्यक् शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो विद्वान् नहीं है। अज्ञानी व्यक्ति वह है जो स्वयं अपने को नहीं जानता और इस अवबोध के लिए जब विद्वान् व्यक्ति पोथियों पर, ज्ञान और सत्ता पर निर्भर करता है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मूढ़ है। अवबोध केवल आत्म-ज्ञान से आता है, जो कि अपनी समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवधान है। इस प्रकार शिक्षा का वास्तविक अर्थ स्वयं को समझना है, क्योंकि अस्तित्व अपनी संपूर्णता में हममें से प्रत्येक में समाया हुआ है।"[1]

हमारी वर्तमान शिक्षा असफल होती जा रही है, क्योंकि वह मात्र सूचनाओं का संग्रह सिखाती है तथा जीविकोपार्जन के विषय-विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, तकनीशियन बनने के लिए प्रोत्साहित करके भी जीवन के बहुत बड़े भाग को समझने के योग्य नहीं बनाती। कष्ट, आनन्द, सुख, सौन्दर्य, कुरूपता और प्रेम आदि भी जीवन के अंग हैं, जब हम समग्रता से प्रत्येक स्तर पर इन्हें भी समझ लेते हैं तो यह समझ स्वयं अपनी तकनीक उत्पन्न कर लेता है। आज की शिक्षा का ही यह परिणाम है कि हमारी पर्यावरणीय व्यवस्था बिगड़ती जा रही है। हम परमाणु बम का विस्फोट कर सकते हैं, अंतरिक्ष की दूरियाँ नाप सकते हैं, समुद्र एवं पृथ्वी के गर्भ में छिपे रत्नों का पता लगा सकते हैं, परन्तु हम आंतरिक एवं मनोवैज्ञानिक दबावों तथा द्वन्द्वों का न तो परिहार ही कर सकते हैं, न ही मानव-हृदय में प्रेम का अभ्युदय कर सकते हैं।

आदर्श एवं परिकल्पनाएँ वास्तविकता को समझने में बाधक सिद्ध होती हैं। क्योंकि "क्या होना चाहिए" प्रमुख हो जाता है और "क्या है" की उपेक्षा हो जाती है। उचित शिक्षा किसी विचार या सिद्धान्त पर आधारित न होकर व्यक्ति को परिपक्व तथा मुक्त होने में प्रेम तथा अच्छाई में अधिकाधिक पुष्पित होने में सहायता करती है। आदर्शवादी साँचे में बालक को ढालना शिक्षा नहीं है। जब तक शिक्षा बने-बनाये सिद्धान्तों पर आधारित है तब तक वह ऐसे स्त्री या पुरुष का निर्माण कर सकती है जो कार्यकुशल तो होंगे, परन्तु वह सर्जनशील मनुष्यों को नहीं उत्पन्न कर सकती। अतः कृष्णमूर्ति जी का कहना है :—

"शिक्षा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य एक ऐसे समन्वित व्यक्ति

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उत्पन्न करना है जो जीवन का उसकी समग्रता से साक्षात्कार करे। एक विशेषज्ञ की भाँति ही आदर्शवादी व्यक्ति को भी समग्रता से लगाव नहीं होता, उसका संबंध केवल अंश से ही होता है। जब तक व्यक्ति कर्म के किसी आदर्श प्रारूप का अनुशीलन कर रहा है तब तक उसके लिए समन्वित होना संभव नहीं होता। यदि हमें किसी बालक का अध्ययन करना हो तो यह आवश्यक है कि हम सजग, सावधान और आत्म-सचेत हों, और इसके लिए अपार बुद्धि एवं प्रेम की आवश्यकता होती है, अपेक्षाकृत उस बुद्धि और प्रेम के जो किसी आदर्श के अनुगमन के लिए प्रोत्साहित करती है।"[1]

शिक्षा नवीन जीवन-मूल्यों के सर्जन करने में सहायक होनी चाहिए। बालक के मन में केवल प्रचलित मूल्यों को आरोपित करना एवं उसे आदर्शों के अनुकूल बनाना तथा उसके मन को प्रतिबद्ध करने से सम्यक् बुद्धि जागृत नहीं होती। विश्व में वर्तमान संकट से निपटने के लिए शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह बालक में ऐसी बुद्धि का विकास करे जिससे वर्तमान संकट के मूल कारणों को समझ कर उनसे निपटने की क्षमता जागृत हो। वास्तव में बालक अतीत एवं वर्तमान दोनों का ही परिणाम होता है। इसलिए वह पहले से ही प्रतिबद्ध होता है। यदि हम अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को बालक के व्यक्तित्व में उतारने का प्रयास करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वयं अपनी और बालक दोनों की प्रतिबद्धता को स्थायी रखना चाहते हैं। मौलिक परिवर्तन तभी संभव है जब हम अपनी प्रतिबद्धता को समझें और उससे मुक्त हो जाँय। बच्चों को निस्संदेह शारीरिक रूप से हमें सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए, परन्तु अपने विचार एवं भावनाओं का रंग उनके मन पर नहीं चढ़ाना चाहिए।

बिना किसी प्रतिबद्धता के जीवन के शाश्वत मूल्यों के साक्षात्कार करने में निस्संदेह व्यक्ति की सहायता करना है। परन्तु उसके लिए व्यक्ति को आत्म-बोध की शिक्षा आवश्यक है। सच्चा शिक्षक मन की प्रतिक्रियाशील प्रवृत्ति के प्रति जागरूक रहता है और वह प्रचलित

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 17.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यों को बदलने में छात्र की सहायता करता है। यदि हम पहले से ही ऐसा मान लें कि मानव स्वभाव नहीं बदल सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम प्रचलित मूल्यों एवं उनमें निहित प्रतिबद्धताओं की ही शिक्षा दिये चले जायेंगे जो मानवीय समस्याओं का निदान करने की क्षमता नहीं रखती।

अपने अन्दर मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की वासना के कारण ही हम शिक्षा में अनुशासन को अधिक महत्व देने लगते हैं। उससे निश्चित ही कुछ परिणाम निकलता है, परन्तु अनुशासन के द्वारा व्यक्ति की अपेक्षा व्यवस्था ही महत्वपूर्ण हो जाती है तथा अनुशासन ही प्रेम का स्थान ग्रहण कर लेता है। अनुशासन बच्चे को नियंत्रित करने का एक सरल उपाय है। परन्तु वह उन समस्याओं को समझने में बालक की सहायता नहीं कर सकता जो जीवन में निहित होती हैं।

यदि परस्पर प्रेम तथा सम्मान नहीं है तो शिक्षक एवं छात्रों के बीच सहयोग असंभव है। यदि कोई शिक्षक अपने शिष्यों से सम्मान की तो मांग करता है परन्तु स्वयं उनका सम्मान नहीं करता तो स्पष्ट है इससे शिष्यों में उसके प्रति उपेक्षा एवं असम्मान का भाव उत्पन्न होगा। मानव जीवन के प्रति आदर के अभाव में ज्ञान केवल विनाश एवं कष्ट की ओर ले जाता है। दूसरे के प्रति सम्मान का संवर्द्धन सही शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है, परन्तु यदि स्वयं शिक्षक में ही यह गुण नहीं है तो समन्वित जीवन की उपलब्धि में छात्र की सहायता नहीं कर सकता। मानव-मानव के बीच उचित संबंध के लिए किसी प्रकार का सत्ताधिकार घातक होता है। सत्ता की लालसा ही स्वयं में विनाशकारी होती है। जैसे ही हम सत्ताधिकार का परित्याग कर देते हैं, हम एक-दूसरे के सहभागी हो जाते हैं।

धर्म भी हमें प्रतिबद्ध करता है। जिसे हम धर्म कहते हैं वह केवल संगठित विश्वास और उसकी रूढ़ियों, कर्मकाण्डों, रहस्यों एवं अंध-विश्वासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि प्रत्येक धर्म की अपनी पवित्र पोथियाँ होती हैं, अपने अवतार तथा पैगम्बर होते हैं, अपने पुरोहित होते हैं, तथा लोगों को धमकाने तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगठित करने के अपने तरीके होते हैं जो व्यक्ति को प्रतिबद्ध करते हैं। यद्यपि सभी धर्मों का दावा है कि वे ईश्वर के उपासक होते हैं और उनका उपदेश है कि हमें एक-दूसरे से प्रेम करना चाहिए, परन्तु वे अपने दण्ड एवं पुरस्कार के सिद्धान्तों के द्वारा लोगों में भय उत्पन्न करते रहते हैं तथा अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों द्वारा संदेह और द्वेष बनाये रखते हैं। आप कहते हैं कि :—

"हमारा तथाकथित धार्मिक प्रशिक्षण प्रश्न करने तथा संदेह करने को हतोत्साहित करता है। परन्तु सत्य क्या है, इसकी खोज तभी आरम्भ होती है, जब हम उन मूल्यों के महत्व की जाँच करना आरम्भ करते हैं, जो समाज अथवा धर्म ने हमारे चारों ओर फैला रक्खा है।"[1]

प्रतिबद्धता किसी भी रूप में धर्म नहीं है। धर्म तो परम शांति एवं सर्जनशीलता की एक ऐसी अवस्था है जिसमें सत्यता है, ईश्वर है। परन्तु वह सर्जनशील अवस्था तभी प्राप्त होती है जब हम मुक्त तथा आत्मज्ञानी हों। मुक्ति सद्गुण लाती है तथा सद्गुण के अभाव में परम-शांति संभव नहीं है। शांति तभी आती है जबकि मन स्वयं अपनी प्रक्रियाओं को भली-भाँति समझता है। संगठित धर्म भले ही भयाक्रान्त एवं दुःखी व्यक्ति के लिए अफीम का कार्य करता हो, परन्तु ईश्वर अथवा सत्य विचार एवं संवेग की इन अवस्थाओं से कहीं परे है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सच्ची धार्मिक शिक्षा का अर्थ सम्यक् बुद्धि से परिपूर्ण जागरूकता, यथार्थ एवं अयथार्थ के बीच विवेक तथा जीवन के प्रति आसक्त दृष्टिकोण उपलब्ध करने में बालक की सहायता करना है। किन्हीं शब्दों या सूत्रों को बार-बार बुदबुदाने या दुहराने की अपेक्षा घर अथवा स्कूल में प्रत्येक दिन का शुभारम्भ गहन चिंतन तथा गम्भीर एवं महत्वपूर्ण पाठन से हो। अपनी महत्वाकांक्षाओं, परम्पराओं तथा आदर्शों से हमारी बीती हुई पीढ़ी ने विश्व में कष्ट तथा विनाश ही उत्पन्न किया है। आने वाली पीढ़ियाँ सही शिक्षा के माध्यम से संभवतः इस दुर्व्यवस्था का अन्त करके एक

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 31.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखकर समाज की व्यवस्था कर सकती हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"अधिकांश बच्चे जिज्ञासु होते हैं। उनमें जानने की लालसा होती है। परन्तु उत्सुकता से भरे उनके प्रश्नों को हम अपने पुरोहिती दावों से तथा श्रेष्ठता की भावना से उत्पन्न अपने अधैर्य से हतोत्साहित कर देते हैं तथा उनका सुना-अनसुना कर देते हैं। अन्वेषण करने के लिए उन्हें हम प्रोत्साहित नहीं करते क्योंकि हमें भय है कि पता नहीं वे हमसे क्या पूछ लें, हम उनमें असंतोष का पोषण नहीं करते क्योंकि स्वयं हमने ही प्रश्न करना बन्द कर दिया है।"[1]

अधिकांश शिक्षक एवं अभिभावक असंतोष से भयभीत रहते हैं, क्योंकि असंतोष सभी प्रकार की सुरक्षा के लिए कठिनाई पैदा करता है। सभी प्रकार की पोथियों के विरुद्ध प्रश्न करने के लिए प्रोत्साहित करके तथा प्रचलित सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं, सरकार के रूपों, धार्मिक विश्वासों आदि के प्रति खोजी-वृत्ति रखकर ही शिक्षक तथा अभिभावक बालक की आलोचनात्मक सतर्कता तथा तीव्र अन्तर्दृष्टि को जाग्रत करके उसे सुरक्षित कर सकते हैं। असंतोष मुक्ति का साधन है तथा संदेह महाऔषधि है। आशा, असंतोष तथा संदेह से परिपूर्ण व्यक्ति ही युवक है। वृद्ध तो असंतोष की अग्नि को पहले ही बुझाकर सुरक्षा एवं सुविधा को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। असंतोष से भयभीत होने के बजाय उसे समझने की आवश्यकता है। असंतोष से तथाकथित दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, परन्तु यदि वह हमें आत्म-बोध तथा आत्म-त्याग की ओर ले जाय तो वह एक नवीन सामाजिक व्यवस्था तथा स्थायी शांति उत्पन्न करेगा क्योंकि आत्म-त्याग से असीम आनन्द प्राप्त होता है।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि जब तक सफलता हमारा लक्ष्य है, तब तक हम भय से मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि सफलता की आकांक्षा अनिवार्यतः असफलता के भय को उत्पन्न करती है। इसलिए युवकों को सफलता की उपासना करना नहीं सिखाया जाना चाहिए, क्योंकि

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 34.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे प्रतिद्वन्द्विता, द्वेष, बैर-भाव तथा हीन-भावना उत्पन्न होती है; जो अंततः युद्ध तथा आत्महत्या को प्रोत्साहित करती है। बुद्धि की परिपक्वता आयु से नहीं अपितु अवबोध से आती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"जीवन एक कूप के समान है, जिसमें अथाह जल है। कुछ व्यक्ति छोटी बाल्टी लेकर आते हैं तथा थोड़ा-सा ही जल सींचते हैं, दूसरा व्यक्ति बड़ा बर्तन लेकर आता है तथा विपुल जल खींच लेता है। ऐसा जल जो उसको पोषित करता है और अस्तित्वमय रखता है। जब तक युवक है तभी तक समय है कि वह अन्वेषण करे, प्रत्येक वस्तु के विषय में प्रयोग करे। अपने व्यवसाय तथा दायित्वों को खोजने में विद्यालयों को युवकों की सहायता करनी चाहिए न कि तथ्यों से तथा तकनीकी ज्ञान से उसके मस्तिष्क को भरने में। विद्यालय की भूमिका ऐसी होनी चाहिए जहाँ वे बिना भय के सुखपूर्वक समन्वित रूप में अपना विकास कर सकें।"[1]

वर्तमान शिक्षा का संबंध बाह्य कार्यक्षमता से है। यह शिक्षा मनुष्य के केवल एक अंश का ही विकास करती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि छात्र को उचित शिक्षा देने का अर्थ है कि अपनी समग्र प्रक्रिया को स्वयं समझ सकने के योग्य बनाने में उसकी सहायता की जाय, क्योंकि सम्यक् बुद्धि एवं आन्तरिक परिवर्तन की संभावना तभी होती है, जब दिन-प्रतिदिन के कार्यों में मन और हृदय का समन्वय हो जाता है। सूचनाएँ देने तथा तकनीकी प्रशिक्षण के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षा जीवन के प्रति एक समन्वित दृष्टिकोट को प्रोत्साहित करे। वास्तविक शिक्षा छात्र के अन्दर की समस्त सामाजिक विषमताओं, पूर्वाग्रहों को तोड़ने में सहायक होती है तथा शक्ति एवं प्रभुत्व के लिए होने वाली लोलुपतापूर्ण दौड़ को हतोत्साहित करती है।

शिक्षण को किसी विशेषज्ञ का व्यवसाय नहीं बनना चाहिए, क्योंकि जब ऐसा होता है तो प्रेम मुरझा जाता है जबकि एकीकरण की

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, 38.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया के लिए प्रेम अनिवार्य है। प्रेम के अभाव में ज्ञान का संग्रह केवल भ्रान्ति उत्पन्न करता है और आत्म-विनाश की ओर ले जाता है। यदि हमें बच्चे को समझना है तो हमें उसकी विविध मनोदशाओं का सतर्कता से अवलोकन करना होगा तथा स्वयं के पूर्वाग्रहों, आशाओं तथा आकांक्षाओं का उस पर आरोपण नहीं करना होगा। सेवा करने की वासना के पीछे भी प्रभुत्व की अचेतन आकांक्षा छिपी होती है, जिसे समझना कठिन होता है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ सहानुभूति होती है। यह सहानुभूति केवल बच्चों के लिए ही नहीं अपितु प्रत्येक मनुष्य के लिए होती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"इस समस्या का समाधान स्वयं हमारे अन्दर ही है। हमें अपने साथियों के साथ, प्रकृति के साथ, विचारों एवं वस्तुओं के साथ अपने संबंध को समझना चाहिए क्योंकि बिना इस अवबोध के न तो कोई आशा ही है और न तो द्वन्द्व एवं दुःख से मुक्ति ही।"[1]

घर एवं विद्यालय के प्रभाव को परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए, अन्यथा अभिभावक एवं शिक्षक दोनों को ही अपने को पुनः प्रशिक्षित करना आवश्यक होगा। उचित शिक्षा तथा घर के विवेकपूर्ण परिवेश के द्वारा समन्वित मनुष्य को उत्पन्न करने में हम सहायक हो सकते हैं।

प्रज्ञा, सत्ता एवं सम्यक् बुद्धि :

लोगों को मात्र पढ़ना-लिखना सिखा कर ही हम मानवीय समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। शांतिप्रिय एवं समन्वित व्यक्ति ही विश्व में व्याप्त भ्रान्ति एवं कष्ट को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यह कार्य उचित प्रकार की शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है क्योंकि ऐसी ही शिक्षा सम्यक् बुद्धि जागृत कर समन्वित जीवन जीने का पोषण करती है और नवीन संस्कृति तथा शांतिमय विश्व की स्थापना कर सकती है। विश्व में कुछ ऐसे लोग हैं जो मात्र सिद्धान्तों तथा व्यर्थ के राजनीतिक प्रश्नों पर विवाद करते रहते हैं

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 43.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा औपचारिक सुधार का खोखला खेल खेलते रहते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जिन्हें परिस्थितियों की सत्यता का आभास होते हुए भी ऐसे जीये चले जाते हैं जैसे वे अब तक जी रहे थे। जब हम किसी को सुनते हैं या उसका अनुभव करते हैं, परंतु उसके अनुसार कार्य नहीं करते तो वह सत्य हमारे अन्दर विष का कार्य करता है तथा मनोवैज्ञानिक विक्षोभ, असंयम तथा स्वास्थ्यहीनता उत्पन्न करता है। शांति एवं सुखमय जीवन की संभावना तो तभी होती है जब व्यक्ति में सर्जनशील सम्यक् बुद्धि को जागृत किया जाय। वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियियों तथा उनकी व्यर्थता की चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :

"केवल एक सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार को, एक दल या वर्ग के स्थान पर दूसरे दल या वर्ग को, एक शोषक के स्थान पर दूसरे शोषक को स्थापित करके हम बुद्धिमान नहीं हो सकते। खूनी क्रान्तियाँ कभी भी हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकतीं। केवल एक गहन अभ्यंतर की क्रांति ही, जो हमारे सभी जीवन-मूल्यों को परिवर्तित करती है, एक नवीन परिवेश का, एक विवेकपूर्ण समाज-संरचना का निर्माण कर सकती है। ऐसी क्रांति केवल आप और हम ही ला सकते है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपनी मनोवैज्ञानिक दीवारों को नहीं तोड़ते तथा स्वतंत्र नहीं होते, नवीन व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सकता।"[1]

अपने को समझने का अर्थ यह है कि हम मनुष्यों, सम्पत्तियों, विचारों तथा प्रकृति के साथ अपने संबंधों के प्रति जागरूक हों। इसी से नवीन मूल्यों का सृजन होता है तथा मौलिक परिवर्तन संभव है। अज्ञान का अर्थ "स्व" की प्रक्रिया के ज्ञान का अभाव है। इस अज्ञान का नाश सतही क्रियाओं एवं सुधारों से नहीं किया जा सकता, उसका नाश तभी हो सकता है जब व्यक्ति समस्त संबंधों के बीच "स्व" की गति तथा उसकी अनुक्रियाओं के प्रति निरन्तर जागरूक हो। अपनी समस्त चेतन एवं प्रच्छन्न प्रक्रियाओं के प्रति जागरूकता ही ध्यान है।

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 46.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी ध्यान के माध्यम से अहं तथा उसकी वासनाओं एवं द्वन्द्वों का अतिक्रमण किया जा सकता है।

"दर्शन तथा धर्म ने कुछ प्रणालियाँ बताई हैं, जिनके द्वारा हम सत्य अथवा ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। फिर भी, किसी एक प्रणाली का अनुगमन करना विचारहीन तथा असंबद्ध बने रहना है। हमारे दैनिक सामाजिक जीवन में वह प्रणाली चाहे कितनी भी उपयोगी क्यों न प्रतीत हो। अनुयायी होने की प्रेरणा सुरक्षा की वासना द्वारा होती है, वह भय उत्पन्न करती है तथा राजनीतिक एवं धार्मिक सत्ताओं को प्रमुखता प्रदान करती है। परन्तु अनुयायी होने को न स्वीकार करना भी सत्ता के विरोध में केवल एक प्रतिक्रिया मात्र ही है और वह भी समन्वित मनुष्य बनने में हमारी किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करता।"[1]

हमारा जीवन केवल ऊपरी सतह पर ही नहीं होता। उसका अधिकांश भाग हमारे सामान्य अन्वीक्षण की सीमाओं के बाहर रहता है। यदि हम अपने छिपे हुए भयों को बाहर आने देना चाहते हैं तथा उन्हें समाप्त होने देना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि चेतन मन उनका अन्वीक्षण नहीं कर पाता। जब ये भय ऊपरी सतह पर आते हैं तो उनका बिना किसी बाधा के अन्वीक्षण होना चाहिये, उनका तिरस्कार एवं औचित्य समर्थन नहीं करना चाहिए, क्योंकि किसी प्रकार का तिरस्कार या औचित्य समर्थन भय को केवल शक्तिशाली ही बनाता है। भय से मुक्ति के लिए सक्रिय जागरूकता की आवश्यकता होती है, ऐसी जागरूकता जिसमें किसी प्रकार का निर्णय नहीं होता। भय के प्रभावों को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :

"भय मन एवं हृदय को ऐसा स्फूर्ति विहीन बना देता है कि हम जीवन के संपूर्ण महत्व के प्रति सचेत नहीं रहते। हम स्वयं अपने दुःखों के प्रति, पक्षियों की गति के प्रति, दूसरों की मुस्कानों तथा उनके कष्टों के प्रति असंवेदनशील हो जाते हैं।"[2]

---

1. वही, पृ० 50–51.

2. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 51.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि कोई भी क्रियाकाण्ड हमें "स्व" से मुक्ति नहीं दिला सकता। तथाकथित ईश्वर से जो हमारे मन की ही उपज है और सिद्धों तथा पैगम्बरों के द्वारा भी "स्व" से मुक्ति नहीं हो सकती। इस सबके नाम पर तो हमारा शोषण ही होता है और हम दुःख भोगने को बाध्य हो जाते हैं। सभी मनुष्यों की, चाहे वे किसी देश अथवा धर्म के हों या किसी रंग अथवा रूप के हों, समस्याएँ एक जैसी हैं। हम सभी दुःख के भोक्ता हैं। कोई भी वाद चाहे वह आदर्शवाद हो, भौतिकवाद हो या यथार्थवाद हो, हमारे कष्टों का निदान नहीं कर सकता। हमारे कष्टों का निदान केवल इसमें है कि संबंधों के बीच हम अपने को समझें, अस्तित्व एक प्रकार का संबंध ही है और आत्म-ज्ञान ही मनुष्य के लिए सुख एवं शांति ला सकता है, क्योंकि वही सम्यक् बुद्धि एवं समन्वयीकरण का दाता है।

प्रज्ञा एवं सम्यक् बुद्धि दोनों अलग चीजें हैं। प्रज्ञा सिद्धान्तों एवं व्याख्याओं से संतुष्ट होती है, सम्यक् बुद्धि नहीं। सम्यक् बुद्धि प्रेम से अलग नहीं है। वह तो अस्तित्व की समग्र प्रक्रिया को समझने तथा मन एवं हृदय दोनों का कर्म में समन्वय होने का परिणाम है। सम्यक् बुद्धि विज्ञता का परिणाम है जो कि ज्ञान से भिन्न है। यह कोई व्यापारिक लेन-देन की वस्तु नहीं है। उसे तो अपने विचारों तथा भावनाओं के प्रति जागरूक होकर मानवीय संबंध की प्रति दिन की घटनाओं को देखने तथा समझने से आती है। प्रज्ञा से सम्यक् बुद्धि कहीं अधिक बड़ी चीज है, क्योंकि इसमें प्रेम एवं तर्क बुद्धि दोनों का समन्वय है। सम्यक् बुद्धि केवल वहीं संभव है जहाँ अपनी समस्त चेतन तथा अचेतन प्रक्रिया का गहरा अवबोध है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि :

"केवल प्रेम और सम्यक् विचारणा ही सच्ची क्रान्ति उत्पन्न करेगी। वह केवल तभी संभव है जब घृणा नहीं होती, लोलुपता नहीं होती तथा अहं का पर्यवसान हो जाता है। एक मनुष्य जो शोषण लोलुपता एवं द्वेष के अनुशीलन में लगा है, कभी प्रेम नहीं कर सकता। बिना प्रेम और सम्यक् विचारणा के उत्पीड़न और क्रूरता निरंतर बढ़ती जाएगी। मनुष्य एवं मनुष्य के बीच वैमनस्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या का समाधान शांति के आदर्श का अनुगमन करके नहीं किया जा सकता, बल्कि वह युद्ध के कारणों को समझ कर ही किया जा सकता है। हृदय सद्भावना तथा आन्तरिक परिवर्तन के अभाव में जो "स्व" के प्रति जागरूकता से उत्पन्न होती है, मनुष्य के लिए सुख एवं शांति संभव नहीं है।"[1]

शिक्षा और विश्वशांति :

वर्तमान विश्व की समस्याओं के निदान के लिए शिक्षा की क्या भूमिका होनी चाहिए, इसे जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना होगा कि विश्व में यह संकट कैसे उत्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि यह संकट हमारे दोषपूर्ण मूल्यों को महत्व देने का परिणाम है। व्यक्तियों, सम्पत्तियों, विचारों के साथ जो हमारे संबंध हैं, उसी में हमारी समस्या भी निहित है। यदि दूसरों के साथ हमारा संबंध आत्मवृद्धि पर निर्भर है, सम्पत्ति के संबंध में यदि हम परिग्रही है तथा विचारों के साथ अपने संबंधों को लेकर हम एक विचार प्रणाली के विरोध में दूसरी विचार प्रणाली का समर्थन करते हैं तो उसका परिणाम यह होगा कि समाज में हम प्रतिद्वन्द्विता, आत्मपृथक्करण तथा अविश्वास एवं द्वेष उत्पन्न करेंगे।

वर्तमान संकट का दूसरा कारण सत्ता एवं नेताओं पर आश्रित होना है। छोटे से विद्यालय या गाँव से लेकर विश्व तथा विश्वविद्यालय तक हम नेता तथा उसकी सत्ता की छत्रछाया में अपनी सुरक्षा ढूंढ़ते हैं, जबकि नेता तथा उसकी सत्ता किसी भी संस्कृति के लिए पतनोन्मुख है। जब तक हम दूसरे का अनुगमन करते हैं, तब तक हमें अवबोध नहीं होता। अनुगमन हमें भय, अनुकूलन और अंततः अधिनायकवादी राज्य की क्रूरता एवं संगठित धर्मों की रूढ़िवादिता तक ले जाता है, जिसका परिणाम विश्व में हिंसा, क्रूरता, राष्ट्रवादिता, धर्मान्धता तथा युद्धों को बढ़ावा देता है और ये सारे तत्व विश्व में अशांति उत्पन्न कर रहे हैं। आज हम विश्व में शिक्षा के नाम पर राष्ट्रवाद, राष्ट्र-प्रेम की भावना, वर्ग एवं जाति की चेतना

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 61.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राष्ट्रनायकों एवं उसकी राष्ट्रभक्ति की प्रशंसा करके तथा यह बतलाकर कि हमारा देश एवं उसकी जीवन-पद्धति उसके देश एवं जीवन-पद्धति से उत्तम है, जातीय अभिमान को प्रेरित करते हैं। यह सब हमारे तुच्छ अहंकारों को बढ़ावा देते हैं और हम गुब्बारे की भाँति फूलते जाते हैं और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक हम देश, जाति एवं धर्म के नाम मरने-मारने को तैयार नहीं हो जाते। यह सब कितना मूर्खतापूर्ण एवं अस्वाभाविक है, क्योंकि राष्ट्रीय एवं वैचारिक सीमाओं की तुलना में मनुष्य निश्चय ही कहीं अधिक महत्व-पूर्ण है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"चूंकि हम राष्ट्रवादी हैं, इसलिए हम अपने सम्प्रभु राज्य की, अपने विश्वासों की और अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए तैयार हैं और इसीलिए यह आवश्यक है कि हम निरंतर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहें। मनुष्य के जीवन की अपेक्षा सम्पत्ति और विचार हमारे लिए कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। इसलिए हमारे और दूसरों के बीच निरंतर संघर्ष और हिंसा बनी रहती है। अपने देश की सम्प्रभुता को सुरक्षित करके हम अपने पुत्रों को नष्ट कर रहे हैं, राज्य की उपासना करके जो कि और कुछ नहीं हमारा ही प्रक्षेपण है, हम स्वयं अपने ही परितोष के लिए अपने बच्चों का बलिदान कर रहे हैं। राष्ट्रवाद और संप्रभु सरकारें युद्ध के कारण भी हैं और साधन भी।"[1]

हमने देखा कि शिक्षित होकर हम विलक्ष क्षमता वाले इंजीनियर, वैज्ञानिक, सक्षम प्रशासक, कुशल कारीगर तो पैदा कर लेते है, परन्तु मनुष्य एवं मनुष्य के बीच बैर-भाव उत्पन्न करने वाले तत्व को नहीं रोक पाते, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश, धर्म, मानवता एवं ईश्वर के नाम पर होने वाली सामूहिक हत्याओं को बढ़ावा मिलता ही जा रहा है। एक ओर हमारे विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण जारी है और दूसरी ओर हम विश्व-शांति की बात भी किये जा रहे हैं। शांति किसी विचार प्रणाली के द्वारा नहीं उत्पन्न होती। न ही वह कानून पर ही आश्रित होती है। जब तक हम

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 66.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यों के बीच वर्तमान संबंधों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करते तब तक विश्व-शांति की बात करना निरर्थक है। यह परिवर्तन स्वयं की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को समझने तथा उसके अवबोध से आता है। हमें चाहिए कि हम बालकों को ऐसा परिवेश दें कि वे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सतत् अन्वेषण तथा वास्तविक असंतोष से सर्जनशील बुद्धि को उत्पन्न कर सके। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि छोटे बच्चों में तो असंतोष होता है परन्तु दुर्भाग्य से उस असंतोष की ज्वाला को सत्ता की उपासना एवं अनुकरण की प्रवृत्तियों द्वारा दबा दिया जाता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"शिक्षा के ऊपर सरकारी नियंत्रण एक विपत्ति है। विश्व में शांति एवं व्यवस्था की तब तक कोई आशा नहीं है जब तक शिक्षा राज्य एवं धार्मिक संगठन की दासी है। फिर भी अधिकाधिक सरकारें बच्चों की तथा उनके भविष्य की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले रहीं है और यदि कहीं सरकार नियंत्रण नहीं चाहती तो वहाँ धार्मिक संगठन हैं जो शिक्षा पर नियंत्रण चाहते हैं।"[1]

शिक्षा को राज्य या धर्म की दासी नहीं होना चाहिए। सारे विश्व में शिक्षा की असफलता का कारण यह है कि हम बालकों को सीखने के लिए नवीन परिवेश नहीं दे पाते। वह परिवेश ही है जो बालक को एक भावनाहीन विशेषज्ञ बनाता है और वह भी परिवेश ही है जो बालक को संवेदनशील तथा बुद्धिमत्तापूर्ण मनुष्य बनने में उसकी सहायता करता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि यदि हमें राष्ट्रवादी भावना से मुक्त होकर एक विश्व सरकार की स्थापना करनी हो तो हममें एक मौलिक परिवर्तन आवश्यक है और यह तभी संभव होगा, जब हमारे हृदय में प्रेम, करुणा और विनम्रता का आगमन हो। यदि जीवन सुख से, विवेक से, सावधानी से तथा प्रेम से जीने के लिए बना है, तो यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने को समझें, और यदि हम एक वास्तविक प्रबुद्ध समाज का निर्माण करना चाहते हैं तो हमारे पास ऐसे शिक्षक होने चाहिए जिनको समन्वय की

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 70.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया का अवबोध हो और जो उस अवबोध को बालक तक पहुँचाने में सक्षम हों। एक सच्चे शिक्षक का संबंध केवल सम्यक् जीवन, सम्यक् शिक्षा एवं सम्यक् जीविकोपार्जन से होता है।

शिक्षकों के अधिकाधिक गैरजिम्मेदार होने का ही यह परिणाम है कि सरकारें शिक्षकों के सभी उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर लेती जा रही हैं। इस प्रकार के उत्तरदायित्वों को लेने से शिक्षक निष्क्रिय एवं कर्तव्यहीन होते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामने राजनीतिक तथा आर्थिक संकटों के साथ-साथ मानव-पतन का संकट उत्पन्न हो रहा है। यह एक ऐसा संकट है जो किसी भी राजनीतिक दल या आर्थिक व्यवस्था के द्वारा नहीं दूर किया जा सकता। जब तक हम मिथ्या मूल्यों को उतार फेंकने के लिए तैयार नहीं होते और नये सिरे से निर्माण करने को तैयार नहीं होते, तब तक नूतन विश्व का निर्माण नहीं कर सकते। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"छोटे-मोटे पैबन्दों वाले सुधारों के द्वारा शांति नहीं उपलब्ध हो सकती और न वह उपलब्ध हो सकती है पुराने विचारों तथा अंध-विश्वासों की किसी नवीन व्यवस्था से। शांति तभी स्थापित हो सकती है, जब हम समझें कि औपचारिकता से एवं छिछलेपन से परे क्या है और इस प्रकार विनाश के इस तूफान को रोकें जिसको हमारी अपनी आक्रामक वृत्ति ने तथा आशंकाओं ने उत्पन्न किया है। तभी हमारे बच्चों के लिए कोई आशा होगी और विश्व के लिए मुक्ति होगी।"[1]

विद्यालय :

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सही शिक्षा का संबंध व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं उसकी मुक्ति से होता है, जो समष्टि के साथ उसके सहयोग को संभव बनाती है। यह स्वतंत्रता आत्म-विस्तार एवं स्वयं की सफलता के लिए किए गए प्रयत्नों से नहीं उपलब्ध होती, अपितु यह तो आत्मज्ञान के साथ आती है, अर्थात् मन जब समस्त बाधाओं से परे उठ जाता है जो उसने स्वयं की सुरक्षा की वासना के द्वारा

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 77.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने लिए निर्मित किए हैं। शिक्षा का कार्य इन सभी मनो-वैज्ञानिक बाधाओं को खोज करने में प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करना है। तभी व्यक्ति में सम्यक् बुद्धि और सर्जनशीलता जागृत होगी। सही शिक्षा तभी संभव होती है, जब हम मानव जीवन के गहरे महत्त्व को समझना आरंभ करते हैं। परंतु उसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा मन उस वासना से मुक्त हो जो भय तथा अनुकरण उत्पन्न करती है।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सांसारिक दृष्टि से जो शिक्षण संस्थाएँ सफल होती हैं, उनके असफल होने की ही अधिक संभावना होती है। तकनीकी कार्य में कुशल एवं शासकीय तथा अशासकीय पदों पर कार्य करने वाले व्यक्तियों को उत्पन्न कर देने मात्र से ही शिक्षा की इति श्री नहीं हो जाती। वास्तविक शिक्षा तो वह है जो समन्वित व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को उत्पन्न करती है, क्योंकि समन्वित व्यक्ति से ही नूतन विश्व एवं नूतन संस्कृति का निर्माण होने की आशा की जा सकती है। विद्यालयों के स्वरूप की चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति का कहना है कि "आशा केवल समन्वित व्यक्ति से ही की जा सकती है और उन्हें उत्पन्न करने में छोटे विद्यालय ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यही कारण है कि बड़ी शिक्षण संस्थाओं में आधुनिकतम एवं श्रेष्ठतम शिक्षा पद्धतियों का प्रयोग करने के स्थान पर सीमित संख्या में बालकों एवं बालिकाओं वाले ऐसे विद्यालयों का होना अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिनमें उचित प्रकार के शिक्षक अध्यापन कार्य करते हों।"[1]

हमारी तात्कालिक आवश्यकता यह है कि शिक्षक अपने बच्चों, अपने मित्रों, अपने पड़ोसियों के साथ अपने संबंधों में जागरूक हों तो उचित शिक्षा संभव है। जो व्यक्ति अपने प्रति जागरूक एवं ईमानदार हैं वे अपने को समझें तथा बालकों को अपने को समझने में मदद करें। उन्हें मिलकर ऐसे विद्यालय आरंभ करने चाहिए, जो समन्वित तथा सम्यक् बुद्धि से पूर्ण विकास के लिए बालकों के सहायक हो सकें। ऐसे

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 73,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालय बालकों के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान ले लेते हैं। ऐसे विद्यालयों को आरंभ करने के लिए उन्हें आवश्यक साधनों को जुटाने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि अपने घर पर ही कोई छोटा-मोटा विद्यालय खोलकर कोई भी उतना ही उत्साही व्यक्ति सच्चा अध्यापक बन सकता है। और यदि वह सही है तो उसे उचित अवसरों की कमी नहीं होगी। अच्छे विद्यालय के लिए आत्म-त्याग, प्रेम और अवबोध की आवश्यकता होती है। यदि बालक के प्रति प्रेम है तो सभी वस्तुएँ संभव हैं अन्यथा धन अनिवार्यतः भ्रष्ट बना देता है।

प्रधानाचार्य किसी विद्यालय का प्रकाश स्तंभ होता है। उसी के व्यक्तित्व के प्रकाश में विद्यालय का सारा कार्य सम्पन्न होता है। यदि प्रधानाध्यापक समन्वित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति नहीं है तो विद्यालय का पतन होते देर नहीं लगती, फिर भी कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सही विद्यालय का निर्माण प्रधानाध्यापक से ही नहीं होता। केवल एक व्यक्ति को उत्साह तथा अभिरुचि हो, यह पर्याप्त नहीं है। इसके लिए तो उसका सहयोग करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह एवं अभिरुचि होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि प्रधानाचार्य प्रभुत्व-सम्पन्न व्यक्ति है तो स्पष्ट है कि स्वतंत्रता एवं सहयोग की भावना की कमी होगी। एक दृढ़ चरित्र वाला व्यक्ति प्रथम श्रेणी के विद्यालय का निर्माण कर सकता है। परन्तु यदि वहाँ भय एवं अधीनता उपस्थित है तो समूह (स्टाफ के लोग) निःसत्त्व हो जाते हैं। अतः सहायकों को प्रधानाचार्य के प्रभुत्त्व के अधीन नहीं होना चाहिए, और प्रधानाचार्य को भी सभी दायित्त्वों को अपने ऊपर नहीं ले लेना चाहिए। दूसरी ओर यह भी होना चाहिए कि प्रत्येक अध्यापक संपूर्ण के लिए अपने को उत्तरदायी समझें। यदि सभी लोग मुक्त एवं विवेकशील होने के लिए प्रयत्नशील हों तो प्रत्येक स्तर पर एक दूसरे का साथ सहयोग संभव हो जाता है।

विद्यालय में किसी भी संबंध में विवाद एवं भ्रान्तियों का होना तो स्वाभाविक है, परन्तु जब सबकों बाँधने वाला सामूहिक अभिरुचि से प्रेरित प्रेम नहीं होता तो वे विवाद बढ़ जाते हैं। सही प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालय में असीम सहयोग होना चाहिए। विद्यालयी समस्याओं के निदान के लिए समय-समय पर विद्यालय के सभी सहयोगियों की प्रायः बैठकें होनी चाहिए और जो कार्यक्रम तय हो उसे क्रियान्वित करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। यदि बहुमत का निर्णय कुछ लोगों को मान्य न हो तो दूसरी बैठकों में उसकी पुनः पुनः चर्चा की जा सकती है। इसके लिए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"किसी भी अध्यापक को प्रधानाध्यापक से भयभीत नहीं होना चाहिए और न प्रधानाध्यापक को ही वरिष्ठ अध्यापकों से भयभीत होने की आवश्यकता है। जब सभी लोगों के बीच पूर्ण समानता की भावना होती है, तो सुखद सहमति संभव होती है। एक सही प्रकार के विद्यालय में समानता की इस भावना का होना आवश्यक है, क्योंकि वास्तविक सहयोग तभी संभव होता है जब श्रेष्ठता एवं अधीनता की भावना का अस्तित्व ही नहीं होता। यदि परस्पर विश्वास है तो किसी भी प्रकार की कठिनाई एवं गलतफहमी की बस उपेक्षा ही नहीं कर दी जाएगी, उसको समझा जाएगा और पुनः विश्वास प्राप्त किया जाएगा।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि कुछ ऐसे भी कारण हैं जिससे विद्यालय के सहयोगियों के बीच संघर्ष बना रहता है, जैसे कोई अध्यापक कार्य की अधिकता से बोझिल हो एवं साथ ही पारिवारिक उलझनों में भी फँसा हो और इसी में कुछ ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिनके कार्य का बोझ भी कम हो और साथ ही वे अपने कार्य में कोई दिलचस्पी भी नहीं लेते हों। स्पष्ट है कि यदि कुछ लोग सब कार्य करें तथा शेष लोग बैठे रहें तो कोई महत्व की बात हो ही नहीं सकती। कार्य का समान वितरण सभी को विश्राम दे देता है। वैसे तो विश्राम के कई रूप हैं। कुछ लोगों को जो स्वयं के कार्य में गहरी अभिरुचि रखते हैं, उन्हें स्वयं वह कार्य ही विश्राम दे सकता है। कुछ के लिए अध्ययन ही विश्राम का स्वरूप होता है और कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें विश्राम तभी मिलता है, जब वे एकान्त में चले जाते

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 84–85,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वैसे तो विवेकपूर्ण अध्यापक अपनी क्षमताओं के प्रयोग में नमनीय होते हैं। यद्यपि वे व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते हैं। यदि सभी लोगों के बीच पूर्ण सामंजस्य की भावना है तो सुखद सहमति संभव हो जाती है।

शिक्षक के ऊपर केवल उतने ही छात्रों का दायित्व होना चाहिए, जितनों को वह आसानी से ले सके। छात्रों की संख्या अधिक होने पर छात्रों एवं अध्यापकों के बीच जीवन्त संबंध लगभग असंभव हो जाता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"सही शिक्षा एक बड़े समूह में नहीं दी जा सकती। प्रत्येक बालक के अध्ययन के लिए धैर्य, सावधानी तथा सम्यक् बुद्धि की आवश्यकता होती है। बालक की प्रवृत्तियों का, उसकी अभिवृत्तियों का एवं उसके स्वभाव का निरीक्षण, उसकी कठिनाइयों को समझना, उसके वंशानुक्रम तथा पैतृक प्रभाव को ध्यान में रखना, न कि उसे किसी विशेष वर्ग-कोटि के ही अन्दर रखना इस सबके लिए स्फूर्ति से भरे एक ऐसे नमनीय मन की आवश्यकता होती है जो किसी विशेष प्रणाली अथवा पूर्वाग्रह से अनुशासित नहीं है। उसके लिए कुशलता की तीव्र अभिरुचि की और सबसे अधिक प्रेम-भावना की आवश्यकता होती है और ऐसे शिक्षकों उत्पन्न करना जिनमें ये गुण हों, आज की प्रमुख समस्याओं में से एक हैं।"[1]

यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि छात्र एवं अध्यापक पूरे समूह के हित से संबंधित विषयों पर विचार करने के लिए नियमित रूप से मिलें तथा चर्चा करें। विद्यालय में छात्र समितियों का गठन भी किया जाना चाहिए, जिसमें अध्यापकों का प्रतिनिधित्व हो। इन समितियों को अनुशासन, सफाई, भोजन आदि सभी समस्याओं पर पूरी तरह से विचार करना चाहिए, इस समिति तथा समिति के सदस्यों को ऐसे छात्रों के निर्देशन में भी सहायता करनी चाहिए जो आत्मरत, उदासीन एवं जिद्दी हों। कार्य की सुविधा के लिए छात्रों को चाहिए कि वे अपने में से ही कुछ ऐसे उत्साही कर्मठ तथा योग्य छात्रों का चुनाव

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करें जो समितियों द्वारा लिए गये निर्णयों को लागू करने के लिए उत्तरदायी हों तथा सामान्य निरीक्षण में समितियों का सहयोग करें, क्योंकि विद्यालयी स्वशासन ही बाद के आने वाले जीवन में स्वशासन की पूर्व प्रस्तुति है।

सम्यक् शिक्षा छात्र को अपनी सही वृत्ति खोजने में उसकी सहायता करती है। यदि बालक अपनी सही वृत्ति नहीं खोज लेता तो उसे अपना समस्त जीवन व्यर्थ हुआ प्रतीत होगा और जीवनभर वह कुण्ठा का अनुभव करेगा। केवल अपनी क्षमताओं के विकास में ही नहीं अपितु चरम अभिरुचियों को भी समझने में सम्यक् शिक्षा को छात्र की सहायता करनी चाहिए। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि एक शांति-पूर्ण एवं प्रबुद्ध समाज का निर्माण करने का दायित्व मुख्यतः शिक्षक का है। अतः सम्यक् शिक्षा न तो सरकार के कानूनों पर निर्भर करती है न किसी विशेष व्यवस्था-प्रणाली पर ही, वह तो अभिभावकों एवं शिक्षकों के हाथ में है। लेकिन जब अध्यापक शिक्षा को मात्र व्यवसाय और धनोपार्जन का साधन बना लेता है तो शिक्षा का केन्द्रीय भाव ही लुप्त हो जाता है। शिक्षक के कार्यों की चर्चा करते हुए कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"शिक्षक का कार्य सूचना देना मात्र नहीं है। शिक्षक वह है जो प्रज्ञा सत्य के लिए मार्ग-निर्देशन करता है। सत्य अध्यापक से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। सत्य की खोज ही धर्म है, वह किसी देश या सिद्धान्त का नहीं होता, वह मन्दिर, चर्च या मसजिद में नहीं मिलता। सत्य की खोज के अभाव में समाज का शीघ्र ही पतन हो जाता है। एक नवीन समाज की रचना के लिए हममें से प्रत्येक को एक सच्चा अध्यापक बनना पड़ेगा, जिसका अर्थ है कि हमको गुरु एवं शिष्य दोनों ही बनना होगा, हमें स्वयं अपने को शिक्षित करना होगा।"[1]

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि एक प्रबुद्ध समाज में शिक्षकों को अपने कल्याण की चिन्ता नहीं करनी होगी, समाज स्वयं ही उनकी आवश्यकताओं की देखभाल करेगा। लेकिन दुर्भाग्य से शिक्षा को

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 91.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वाधिक दायित्वपूर्ण वृत्ति मानने के स्थान पर उसे अब हीन दृष्टि से देखा जा रहा है। एक सच्चा अध्यापक वह नहीं है जिसने एक प्रभावशाली शिक्षण संस्था का निर्माण किया है अथवा जो राजनीतिज्ञों का एक साधन है और न वह ही सच्चा अध्यापकहै, जिसने अपने को एक आदर्श, एक विश्वास, एक देश से बाँध लिया है। एक सच्चा अध्यापक तो अभ्यंतर में समृद्ध होता है। अतः वह अपने लिए कुछ नहीं चाहता, वह न तो महत्वाकांक्षी होता है न ही सत्ता की खोज ही करता है। एक प्रबुद्ध सभ्यता में ऐसे अध्यापकों का आधारभूत स्थान होता है क्योंकि सच्ची सस्कृति तननीकी विशेषज्ञों पर नहीं शिक्षकों पर आधारित होती है।

अभिभावक एवं अध्यापक :

शिक्षक को शिक्षित करना अर्थात् उसे अपने को समझाने के लिए तैयार करना एक सर्वाधिक कठिन कार्य है, क्योंकि शिक्षक स्वयं एक विचार-प्रणाली एवं कर्म के ढाँचे में ढल चुका है। अतः ऐसा शिक्षक बालक को यही सिखाता है कि वह क्या सोचे, न कि वह कैसे सोचे। इसके अतिरिक्त शिक्षक एवं अभिभावक स्वयं के द्वन्द्वों एवं परेशानियों में व्यस्त होते हैं। उन्हें वर्तमान सामाजिक एवं नैतिक पतन की कोई गम्भीर चिन्ता नहीं होती। विकट समस्या है कि अभिभावकों को अपने बच्चों से तथा शिक्षकों को अपने छात्रों से प्यार नहीं है। सही शिक्षा के मार्ग में यह बहुत बड़ी बाधा है।

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि यह सचमुच बड़ा आश्चर्यजनक है कि वकील, डाक्टर, इंजीनियर एवं राजनीतिज्ञ उत्पन्न करने के लिए कठोर प्रशिक्षण की व्यवस्था है, जबकि शिक्षक एवं अभिभावक बनने के इतने महत्वपूर्ण कार्य के लिए उन्हें किसी प्रकार का प्रशिक्षण नहीं लेना पड़ता।

समाज में पृथकता की दीवारें प्रेम एवं बोध से ही टूटती हैं। तब परिवार एक कारागृह, शरणस्थल या घेरा न होकर सभी से परस्पर संवाद की स्थिति में हो जाता है, जहाँ एक-एक का दुःख-दर्द सभी का दुःख-दर्द बन जाता है, जिसे परस्पर सहयोग की भावना से मिटाकर समाज में सुख एवं शांति स्थापित की जा सकती है। इस कार्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यापक यदि वास्तविक रुचि लेता है तो वह अभिभावकों का विश्वासपात्र बनने के साथ-साथ परस्पर शिक्षित भी कर रहा है। सम्यक् शिक्षा पारस्परिक कार्य है जिसके लिए धैर्य, सहानुभूति तथा प्रेम की आवश्यकता होती है और ऐसी व्यवस्था में ही शिक्षक अभिभावक एवं बच्चों का सम्यक् विकास संभव होता है।

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि अभिभावकों को भी यह प्रश्न स्वयं से करना चाहिए कि उन्हें बच्चे क्यों होने चाहिए ? क्या वे बच्चे इसलिए चाहते हैं कि इससे उनका नाम होगा तथा उनकी बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक सम्पत्ति सुरक्षित रहती है। यदि इस बात में सत्यता है तो वे अपने बच्चों को प्रेभ करने के नाम पर दोषपूर्ण शिक्षा देकर उनमें द्वेष, बैरभाव तथा महत्त्वकांक्षा का पोषण करते हैं तथा राष्ट्रीय, जातीय तथा धार्मिक संघर्ष को उत्प्रेरित करते हैं जो अंततोगत्वा मनुष्य को मनुष्य के विरोध में खड़ा करके युद्ध, विनाश एवं अपार कष्ट को आमंत्रित करता है। अपने बच्चों के लिए अभिभावकों का कष्ट उठाना एक प्रकार की अधिकार वृत्ति वाली आत्म-दया है, जिसका अस्तित्व तभी होता है, जब प्रेम नहीं होता।

सफलता की उपासना द्वन्द्व एवं कष्टों को प्रोत्साहित करती है। यदि शिक्षक एवं अभिभावक अपने बच्चों से वास्तव में प्रेम करते हैं तो उन्हें उनके साथ पूर्णतया संवाद में होना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि बच्चों को ऐसी शिक्षा मिल रही है कि नहीं जो उनके लिए संवेदनशील, प्रज्ञावान तथा समन्वित होने में सहायक सिद्ध होती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि "निस्संदेह यह आवश्यक है कि पहले अध्यापक स्वयं यह समझना आरंभ करे। उसे निरंतर चौकन्ना रहना चाहिए तथा स्वयं अपने विचारों और भावनाओं के प्रति अत्यंत जागरूक होना चाहिए। उसे उन तरीकों के प्रति जागरूक होना चाहिए जिनसे वह प्रतिबद्ध है। उसे अपनी क्रियाओं और अनुक्रियाओं के प्रति जागरूक होना चाहिए। इसी जागरूकता से सम्यक् बुद्धि आती है और इसी से अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के साथ उसके संबंध में मौलिक परिवर्तन होता है।"[1]

.1 शिक्षा एवं जीवन का महत्व, पृ० 97–98.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यक् बुद्धि का संबंध परीक्षा पास करने से नहीं होता, अपितु सम्यक् बुद्धि वह सहज साक्षात्कार है जो अपने दुःखों, कुंठाओं, भयों तथा व्यक्तिगत सुरक्षा की खोज के समस्त कारणों का निरीक्षण करने तथा उनसे मुक्त हो जाने से जागृत होती है। जब शिक्षक अपने को नहीं समझता तब वह स्वयं अपनी प्रतिबद्धताओं तथा प्रचलित मूल्यों को बालकों पर आरोपित करता है, जो सम्यक् बुद्धि जागृत करने में उनकी कभी भी सहायता नहीं कर सकता।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सही शिक्षक का समाज में न तो कोई अधिकार ही होता है न शक्ति ही, वह समाज के विधि-निषेधों एवं मान्यताओं से परे होता है। दूसरे का अनुगमन करना, चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो, "स्व" की प्रक्रिया की खोज में बाधक है। सभी प्रकार की सत्ता एवं भय से मुक्त अध्यापक ही बालकों को इसके लिए प्रेरित कर सकता है कि वे स्वतंत्र होकर आत्म-अन्वेषण कर सकें। इसप्रकार स्वतंत्रता की ओर बढ़ने में छात्र की सहायता करके शिक्षक स्वयं अपने जीवन-मूल्यों को भी बदल सकता है तथा साथ ही वह भी "मैं" एवं "मेरे" से मुक्ति पाना शुरू कर देता है तथा प्रेम एवं अच्छाई में पुष्पित होने लगता है। सही शिक्षक निरंतर अपने को पुस्तकों तथा प्रयोगशालाओं से मुक्त करता रहे तथा किसी समस्या को समझने में छात्र को समान भागीदार बनाये। वह छात्रों को आदेश देकर अपने से नीचे न समझें। इससे तो अध्यापक अपने भयों आदि को ही छिपाने का प्रयत्न करता है। सही शिक्षक व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं समन्वयता के लिए समर्पित होता है। अतः वह गहरे अर्थों में सच्चा धार्मिक व्यक्ति होता है। वह साम्प्रदायिक विश्वासों तथा क्रिया-काण्ड से मुक्त होता है। जब तक व्यक्ति में अध्यापन करने की ज्वलंत अभिलाषा न हो, उसे अध्यापक नहीं बनना चाहिए, क्योंकि प्रतिभा रहित व्यक्ति केवल जीविकोपार्जन के लिए अध्यापन करता है, जो उचित नहीं है। जब तक व्यक्ति के लिए अन्य वस्तुएँ जैसे परिवार, व्यक्तिगत सुरक्षा एवं सुविधा गौण नहीं हो जाती, तब तक शिक्षा के प्रति पूर्ण समर्पित नहीं होता।

जहाँ तक स्वतंत्रता का प्रश्न है जो शिक्षा का मूल है, वह आरंभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही होती है। स्वतंत्रता या मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे अंत में प्राप्त किया जाता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि यदि व्यक्ति में जीवन्त अभिरुचि है तो वह किसी ऐसी प्रणाली की माँग नहीं करेगा जो इच्छित परिणाम का आश्वासन दे सकें। परिस्थितियों से बाध्य होकर किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होने से कुण्ठा उत्पन्न होती है और यह तब होता है जब हम अपने विषय में यह नहीं जानते कि वास्तव में वह क्या है, जिसे हम करना चाहते हैं। यदि शिक्षण कार्य किसी व्यक्ति की वृत्ति है और वह उचित शिक्षा के महत्त्व को देखता है तो वह सही प्रकार का शिक्षक हुए बिना नहीं रह सकता। बालक को हम शिक्षा इसलिए देते हैं कि वह अपनी उचित वृत्ति खोज ले और उन व्यवसायों से बचे जो बैर भाव का कारण बनते हैं। कृष्ण-मूर्ति जी का विचार है कि :—

"उचित शिक्षा के अभाव में भ्रम को यथार्थ समझ लिया जाता है, और तब व्यक्ति अभ्यंतर से सदा ही द्वन्द्व में रत रहता है। इसी से दूसरों के अर्थात् समाज के साथ भी उसका द्वन्द्व रहता है। शिक्षण हम इसलिए करते हैं कि हम देखते हैं कि संगठित धर्मों के रूढ़ि सिद्धान्तों अथवा कर्म काण्डों से नहीं वरन् आत्म-ज्ञान से मन शांत होता है और वह सर्जन, सत्य, ईश्वर तभी अभिव्यक्त होता है, जब "मैं" एवं "मेरे" का अतिक्रमण हो जाता है।"[1]

शिक्षा एवं काम वृत्ति तथा विवाह

हमारी मानवीय समस्याओं में से एक जटिल एवं कठिन समस्या है कामवृत्ति। यदि शिक्षकों ने इस समस्या का गहराई से अन्वेषण नहीं किया है तो वे कैसे इस विषय में छात्रों की सहायता कर सकते हैं। यदि अभिभावक एवं शिक्षक दोनों ही कामवृत्ति की परेशानियों से ग्रसित हैं तो वे अपने बालकों का मार्ग दर्शन नहीं कर सकते।

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि कामवृत्ति की समस्या का हमारे जीवन में प्रमुख स्थान होने का कारण यह है कि हमारी समस्त

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 109,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षण पद्धतियाँ प्रज्ञा के विकास पर ही आधारित हैं, और हममें से अधिकांश व्यक्तियों का सारा अनुभव बौद्धिक हो गया है जो "स्व" अर्थात् अहंकार का ही संवर्द्धन करता है। सुख एवं आनन्द की अवस्था में ही हम सर्जनशील होते हैं जो तभी होती है जब हमारे "अहं" का अभाव होता है अर्थात् आनन्द की अवस्था में व्यक्ति अहंकार शून्य होता है और वही सर्जन शीलता की अवस्था भी होती है। सर्जन शीलता प्रज्ञा के माध्यम से नहीं आती, यह तो तभी आती है जब प्रज्ञा शान्त होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा सारा जीवन सर्जनशीलता के अभाव में ही बीतता है और हम अपने को बहुत कम क्षणों में आनंदित पाते हैं। हमारे जीवन में आनन्द एवं सर्जनशीलता का एक ही प्राकृतिक साधन बच जाता है, वह है कामवृत्ति। यद्यपि इस प्राकृतिक प्रवृत्ति के द्वारा प्रकृति अपना सृजन करती रहती है, फिर भी बोध के अभाव में हम यह जान ही नहीं पाते कि किस प्रकार हम स्वयमेव प्रकृति के इस कार्य में सहयोग करते जा रहे हैं। इस प्राकृतिक कामवृत्ति की आत्मविस्मरण वाली अवस्था में ही हम कुछ क्षण के लिए सर्जनशील होते हैं और बार-बार इस अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं। अतः हमारी मूल समस्या कामवृत्ति नहीं है, अपितु हमारी मूल समस्या उस वासना में है जो आनन्द की उस सर्जनशील अवस्था को पुनः पुनः प्राप्त करना चाहती है, भले ही यह अवस्था विषय वासना के किसी फूहड़ रूप में ही क्यों न हों।

"हमारी खोज का वास्तविक लक्ष्य आत्म-विस्मरण का यह तीव्र आवेश ही है। अर्थात् किसी ऐसी वस्तु के साथ तादात्म्य जिसमें हम अपने को पूर्णतया भुला सकें। परन्तु स्व तो संकीर्ण, क्षुद्र तथा कष्ट का स्रोत होता है। अतः सचेतन अथवा अचेतन रूप में हम व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उत्तेजनाओं में अथवा ऊँचे विचारों में अथवा विषय वासना के किसी फूहड़ रूप में अपने को भुला देना चाहते हैं।"[1]

जब हम "स्व" अथवा 'अहंकार" से पलायन चाहते हैं तो पलायन के साधन बड़े महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। जब तक हम उन

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 111,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाधाओं का अन्वेषण नहीं कर लेते जो कि सर्जनशील जीवन जीने में अवरोध उत्पन्न करती हैं, तब तक हम कामवृत्ति की समस्या को नहीं समझ सकते। सर्जनशील जीवन "स्व" से मुक्ति है, सर्जनशीलता की अवस्था तभी संभव होती है जब मन किसी वासना तथा उसके तुष्टीकरण में नहीं फँसा है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि अत्यतं सूक्ष्म ध्यान से स्वयं अपने मन और हृदय का अवलोकन करके ही हम अपनी वासनाओं के प्रच्छन्न रूपों को प्रकाश में ला सकते हैं। हम जितने ही विवेकपूर्ण तथा प्रेममय होते हैं, उतना ही कम हमारे मन पर वासना का प्रभुत्व होता है। जब प्रेम नहीं होता तब विषय-वासना एक हानिकारक समस्या बन जाती है।

अपने दैनिक जीवन में हमारा यह नित्य का अनुभव है कि पुस्तकों, विज्ञापनों, सिनेमा एवं दूरदर्शन आदि अनेक माध्यमों से विषय-वासना के विभिन्न पक्षों पर बल देकर उसे प्रचारित किया जा रहा है और दूसरी ओर संतों, महात्माओं तथा गुरुओं आदि के माध्यम से ब्रह्मचर्य के आदर्श का झण्डा भी खड़ा किया जा रहा है। इस प्रकार के क्रिया-कलाप बालकों के मन में अंतर्विरोध का निर्माण करते हैं। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"विषय-वासना मन की मुख्य क्रियाओं में से एक है और जब हम इसके प्रयत्नों को समझते हैं तो भोग, उत्तेजना तथा हिंसा हमारे जीवन के प्रमुख रूप नहीं रहते। चूँकि हम प्रेम नहीं करते, अतः काम-वृत्ति अथवा विषय-वासना के पीछे दौड़ना हमारे लिए बड़ी कठिन समस्या हो गयी है। जहाँ प्रेम है, वहाँ ब्रह्मचर्य होता है, परन्तु जो ब्रह्मचर्य के लिए प्रयत्न करता है, वह ब्रह्मचारी नहीं होता। सदाचार मुक्ति के साथ आता है, वह तभी आता है, जब जो वास्तविकता है उसका हमें अवबोध होता है।"[1]

सामाजिक व्यवस्था के अनुसार हम कामवृत्ति की समस्या को विवाह-संस्कार के माध्यम से दूर करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि जब तक वासना की

---

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 113.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्त प्रक्रियाओं का हमें गहरा अवबोध नहीं हो जाता, तब तक विवाह-संस्था हमारी कामवृत्ति की समस्या का समाधान नहीं दे सकती। उनका कहना है किसी समझौते पर हस्ताक्षर करके प्रेम नहीं उत्पन्न किया जा सकता, वह न तो किसी प्रकार की संतुष्टि के बदलाव पर ही आधारित है। ये सभी वस्तुएँ मन की हैं और यही कारण है कि प्रेम का हमारे जीवन में इतना छोटा स्थान है। किसी समझौते पर हस्ताक्षर करके प्रेम उत्पन्न नहीं किया जा सकता, प्रेम मन की वस्तु नहीं है। कामवृत्ति की समस्या प्रेम के अभाव का परिणाम है।

हमारे समाज की प्रमुख समस्या बालक नहीं अध्यापक हैं। यदि हम दूसरों को शिक्षा देना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हमारा मन तथा हृदय शुद्ध हो। यदि शिक्षक स्वयं कुटिल, भ्रान्त तथा अपनी वासनाओं की भूलभुलैया में फँसा है तो वह कैसे दूसरों को दिशा-निर्देशन दे सकता है? मनुष्य कोई यंत्र नहीं है जिसे किसी विशेषज्ञ द्वारा समझा जा सकता है तथा उसकी मरम्मत की जा सकती है। हम प्रभावों तथा घटनाओं की एक लम्बी शृंखला के परिणाम हैं और हममें से प्रत्येक को अपने से ही अपने स्वभाव की भ्रान्ति को समझना तथा सुलझाना होगा। तभी नूतन विश्व का निर्माण संभव है।

कला सौन्दर्य एवं सर्जन :

जाने या अनजाने हममें से अधिकांश लोग स्वयं से पलायन का मार्ग खोजते ही रहते हैं, क्योंकि "स्व" अर्थात् "अहंकार" की अनुपस्थिति में ही आनन्द एवं सौन्दर्य की अनुभूति होती है और "मैं" की अनुपस्थिति में ही सर्जनशीलता जन्म लेती है। "मैं" से पलायन की इस प्रक्रिया में कला एक सरल एवं सम्मानित साधन प्रस्तुत करती है। वह लोगों के जीवन में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका पूरी करती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि :—

"आत्म-विस्मरण की वासना से कुछ लोग कला की ओर मुड़ते हैं, कुछ लोग सुरापान करते हैं, जबकि इसी प्रकार दूसरे लोग रहस्यमय एवं काल्पनिक धार्मिक सिद्धान्तों का अनुगमन करते हैं।"[1]

1. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व, पृ० 116.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु ऐसी साधना कुछ क्षण के लिए आनन्दप्रद हो सकती है। परन्तु हमारे जीवन में वह और अधिक द्वन्द्व एवं अन्तर्विरोध ही उत्पन्न करती है। यही कारण है कि बड़े-बड़े कलाकारों तथा संगीतज्ञों के जीवन में भी आनन्द की केवल झलकें मिलती हैं। उचित शिक्षा व्यक्ति की समस्याओं का सामना करने में उसकी सहायता करती है, न कि पलायन का मार्ग ढूँढ़ने में। व्यक्ति से समस्त द्वन्द्वों के विलय होने पर ही सर्जनशीलता की अवस्था संभव हो सकती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सर्जनशील होना, केवल कविता करना, मूर्ति बनाना, चित्र बनाना या संतान उत्पन्न करना नहीं है। सर्जनशील होना एक ऐसी अवस्था में होना है, जिसमें सत्य अभिव्यक्त होता है। सत्य तभी अभिव्यक्त होता है, जब विचारों का पूर्णरूपेण पर्यवसान हो जाता है और विचार का पूर्ण पर्यवसान तभी होता है, जब "स्व" अनुपस्थित होता है, जब मन सर्जन करना बंद कर देता है अर्थात् "स्व" के निष्क्रिय होने पर सर्जनशीलता संभव होती है।

सर्जनशीलता का सुख तभी मिलता है, जब आन्तरिक समृद्धि होती है, जो कभी भी किसी भी व्यवस्था-प्रणाली के माध्यम से नहीं प्राप्त हो सकती। सर्जनशीलता तभी आती है, जब मन की समस्त प्रक्रियाओं के प्रति और उन बाधाओं के प्रति जो मन ने अपने लिए उत्पन्न कर लिया है, हम सतत् जागरूक होते हैं। सर्जन के लिए आवश्यक स्वतंत्रता एवं मुक्ति आत्मज्ञान के साथ आती है। परन्तु आत्मज्ञान कोई नैसर्गिक प्रतिभा नहीं है। बिना किसी विशेष प्रतिभा के भी कोई व्यक्ति सर्जनशील हो सकता है। सर्जनशीलता एक ऐसी अवस्था है' जिसमें स्व के दुःखों एवं द्वन्द्वों का अभाव होता है तथा जिसमें मन वासना की आवश्यकताओं एवं उसके प्रयत्नों में ग्रसित नहीं होता है।

सौन्दर्य के प्रति प्रेम अपने को किसी गायन, मुस्कान, शांति या मौन में अभिव्यक्त कर सकता है। पक्षियों के कलरव, बादलों का भ्रमण, सरिता एवं झरनों का कल-कल निनाद सुनने का हमारे पास तो समय ही नहीं होता। हम तो अपने भोग-विलास एवं कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि सौन्दर्य के अवलोकन का हमें समय ही नहीं मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता। यदि हमारे हृदय में ही सौन्दर्य नहीं है तो हम कैसे बालकों को सचेत एवं संवेदनशील बनने में उनकी मदद कर सकते हैं ? यदि हम बालकों में संवेदनशीलता का विकास करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम स्वयं सौन्दर्य के प्रति सचेत हों, वह चाहे मनुष्य-सृष्ट हो, चाहे प्राकृतिक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार

कृष्णमूर्ति जी का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन का ही एक गत्यात्मक रूप है। "मुक्ति" और "आनन्द" की प्राप्ति को ही वे जीवन का अभीष्ट मानते हैं तथा जीवनपर्यन्त वे लोगों को इसी बात की शिक्षा देने में अपने आपको समर्पित कर दिये। वे कहा करते थे कि मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है लोगों को उस मुक्ति और आनन्द को प्राप्त करने में उनकी सहयता करना जिसे मैं स्वयं प्राप्त कर चुका हूँ और यही सम्पूर्ण मानवता का अंतिम अभीष्ट है। मुक्ति के लिए सत्य की खोज का अंतिम बिन्दु ही मुक्ति और आनन्द है। कृष्णमूर्ति जी के अनुसार मनुष्य के अस्तित्व का आरंभ तभी होता है, जब वह सत्य की खोज प्रारंभ करता है। हमारी शिक्षा का उद्देश्य सत्य की खोज में ही निहित है। उनका कहना है कि मानवीय मन अपार ऊर्जा का भण्डार है। यदि वह इस ऊर्जा को सत्य की खोज में नहीं लगाता तो उसका प्रत्येक कार्य विनाश एवं पीड़ा का कारण बन जाता है।

सत्य की अवधारणा :

सत्य की अपनी अवधारणा में कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि सत्य एक पथहीन भूमि है। मनुष्य इस तक किसी संगठन, किसी पंथ, किसी रूढ़िवादिता, पुरोहित या कर्मकाण्डों द्वारा नहीं पहुँच सकता और न किसी दार्शनिक ज्ञान अथवा मनोवैज्ञानिक, तकनीक से ही। उसे तो संबंध के दर्पण द्वारा अपने मानस की विषय-वस्तुओं की समझ द्वारा तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है, न कि बौद्धिक छानबीन या अन्तर्दर्शी सूक्ष्म परीक्षण से। सत्य कोई विचार की वस्तु नहीं है, उसे सिद्धान्तों, मतों तथा किसी भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा नहीं जाना जा सकता। जब हमारे मन की खिड़की स्वच्छ हो, अर्थात् उस पर विचारों, संस्कारों, प्रतिबद्धताओं, भयों तथा रूढ़ियों आदि की धूल न हो तब जो कुछ भी मन अनुभव करेगा, वह सत्य होगा, समयातीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। लेकिन इसके लिए गहरी अन्तर्दृष्टि, बोध-क्षमता और प्रतीक्षा की आवश्यकता है। सत्य की खोज के लिए मन का समस्त आध्यात्मिक परंपराओं तथा मान्यताओं से मुक्त होना अनिवार्य है, अन्यथा सत्य नहीं खोज सकेंगे। सत्य की खोज तत्क्षण वर्तमान में ही की जा सकती है। सत्य भूत में नहीं है। स्मृति की वस्तु वह नहीं है। सत्य भविष्य से भी संबंधित नहीं है। कल्पना की चीज नहीं है सत्य। सत्य ऐसा तात्कालिक जीवन्त अनुभव है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं होता, समय और देश का भान नहीं रहता।

सत्य का खोजी जब अपने अनुभवों की गति के प्रति चुनाव-रहित सजगता की स्थिति में होता है तो वह विचारक और विचार, द्रष्टा एवं दृश्य, अनुभवकर्ता एवं अनुभव के विभाजन के मिथ्यात्व को देख लेता है। वह जान लेता है कि यह विभाजन एक भ्रम है। वास्तविकता यह है कि द्रष्टा ही दृश्य है, विचारक ही विचार है और अनुभवकर्त्ता ही अनुभव है। ऐसी स्थिति में मन के सारे द्वैत समाप्त हो जाते हैं और मन प्रज्ञा की शांति तक पहुँच जाता है, तभी शुद्ध निरीक्षण होता है, तभी उसका अनुभव होता है जो सत्य है। जो मन प्रज्ञा की शांति तक पहुँच गया है, वही सत् को जानेगा।

सत्य कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह अस्थिर एवं निरंतर प्रवाहमान, गतिमान है। अतः जो व्यक्ति यह कहता है कि मैं सत्य को जानता हूँ, वह पहले ही सत्य के प्रति मर चुका है, जो व्यक्ति सोचता है मैं नहीं करता, जो कहीं पहुँचने या कुछ होने की दृष्टि से नहीं सोचता, ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में जी रहा है और उसका वह जीना ही सत्य है और ऐसे जीवन से जो कुछ अभिव्यक्त हो रहा है, वही सत्य है।

गुरु की सत्ता :

सही शिक्षा, सही शिक्षक या गुरु से ही आरंभ होती है; ऐसा मानते हुए भी कृष्णमूर्ति जी गुरु का सदा ही विरोध करते हैं। वे कई कारणों से गुरु का विरोध करते हैं। प्रथम कारण तो यह है कि गुरु, शिक्षक या अन्य वे सभी जो बालक को शिक्षित करते हैं, अपने सिद्धान्तों, विचारों एवं निष्कर्षों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालकों के मन पर आरोपित करते हैं, जिसके कारण बालक विशेष मानसिकता वाली स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। विभिन्न मानसिकता द्वारा शिक्षित होने वाले बच्चों के बीच प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा तथा अपने को अन्य बच्चों से श्रेष्ठ दिखाने का भाव पैदा हो जाता है। यही कारण है कि वे गुरु का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि माता-पिता, अभिभावक या शिक्षक जो भी बालक को शिक्षित कर रहा है, यदि वास्तव में अपने बच्चों से प्रेम करता है तो कभी भी उनके साथ जोर-जबरदस्ती नहीं करता, न ही अपने सिद्धान्तों तथा अनुभवों का उनके ऊपर आरोपण ही करता है। उसे तो उनके लिए एक ऐसा वातावरण निर्मित करना चाहिए जिसमें वे स्वयं ही सीख सकें। शिक्षक का कार्य उस माली की भाँति होना चाहिए जो बगिया के प्रत्येक पौधे को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार देखभाल करता है। माली यह कभी भी अपेक्षा नहीं करता कि किस पौधे में किस प्रकार के फूल लगें। यदि वह गुलाब के पौधे में जूही के पुष्प लगने की आशा करता है तो वह पागल है। यदि पौधे भी प्रतिस्पर्धा में एक-दूसरे जैसा होने की प्रवृत्ति रखने वाले हो जाँय तो उनकी वास्तविक प्रकृति कभी भी प्रकट नहीं हो पायेगी।

आध्यात्मिक दृष्टि से "मुक्ति" बन्धन का विपरीत नहीं है। वह किसी चीज से मुक्ति नहीं है, बल्कि वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में देखना एवं उनके पार चले जाना ही मुक्ति है। परन्तु वास्तविकता यह है कि हम मुक्त तो होना चाहते हैं, परन्तु मुक्ति का मार्ग दिखाने वाले गुरु के ही बंधन में बँध जाते हैं। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी जैसे प्रच्छन्न गुरु कभी भी व्यक्ति और सत्य के बीच नहीं आना चाहते। गुरु के माध्यम से सत्य के वास्तविक स्वरूप को नहीं देखा जा सकता। सत्य के पथिक को तो अन्त में गुरु की सत्ता से भी मुक्त होने की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी स्वयं को किसी का गुरु नहीं मानते और वे गुरुओं का सदा विरोध करते हैं।

धार्मिक सत्ता :

कृष्णमूर्ति जी सदा ही तथाकथित धर्मों का विरोध करते रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका कहना है कि तथाकथित धर्म व्यक्ति के मन को प्रतिबद्ध कर देता है, क्योंकि इनमें विचार, अंधी भक्ति, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ, कर्मकाण्ड भरे पड़े हैं। सभी संगठित धर्मों की अपनी-अपनी पवित्र पोथियाँ होती हैं अद्वितीय अवतारी पुरुष या पैगम्बर होते हैं और उनके पण्डे-पुरोहित लोगों को धमकाने एवं संगठित करने के लिए अपने-अपने ढंग से स्वर्ग एवं नर्क की परिकल्पनाएँ करते हैं। इस प्रकार वे लोगों को प्रतिबद्ध करके धार्मिक बनाते हैं। यद्यपि सभी धर्म यही दावा करते हैं कि उनका धर्म ही ईश्वर की वाणी है और उन्हीं के धर्म से लोगों के बीच भाई-चारा एवं परस्पर प्रेम की भावना रखने का संदेश मिलता है, फिर भी वे दण्ड एवं पुरस्कार की विधियों द्वारा लोगों में भय उत्पन्न करते हैं तथा अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों द्वारा लोगों के बीच संदेह तथा बैर-भाव बनाये रखते हैं।

वास्तविकता यह है किसी भी प्रकार के द्वन्द्व में फँसा हुआ मन कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता। धार्मिक जीवन की शुरुआत तो तभी होती है, जब मानव-मन बहुत ही गहराई में छिपे मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति को समझकर उसके पार चला जाता है। मनोवैज्ञानिक ज्ञान से मुक्ति ही धार्मिक जीवन का प्रारंभ है, जिसका अर्थ अतीत को मिटाना नहीं, अपितु एक बिल्कुल भिन्न आयाम में प्रवेश करना है, जहाँ सभी कुछ स्पष्ट है। कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि कोई भी धर्म सत्य की ओर नहीं ले जा सकता, सत्य तो एक पथहीन भूमि के समान है। उसे तो संबंधों के दर्पण द्वारा मानस की विषयवस्तुओं की गहरी समझ तथा निरीक्षण के अतिरिक्त अन्य किसी विधि द्वारा नहीं जाना जा सकता। कृष्णमूर्ति जी का दावा है कि सत्य प्रत्येक मनुष्य के लिए सुलभ है। स्व-चेतना से मुक्त होकर व्यक्ति जब समष्टि में प्रवेश करता है तो उसके सभी द्वैत भाव मिट जाते हैं और वह स्वयं को सत्य में स्थित हुआ पाता है।

परमात्मा की सत्ता :

कृष्णमूर्ति जी परम्परा को स्वतंत्रता का शत्रु मानते हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपनी मृत परंपराओं को ढोता रहेगा, तब तक वह किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रकार की स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकता। मृत परंपराओं के जीर्ण-शीर्ण सिद्धान्त वर्तमान जीवन को गुलाम बनाते हैं। एक परंपरावादी मन सदा ही अतीत में जीता है, वह बराबर अतीत को खींच कर वर्तमान में लाना चाहता है, वह सदा ही अतीत में संचित ज्ञान को ढोता रहता है। सारी परम्पराओं से मुक्त मन ही सत्य की खोज कर सकता है।

द्रष्टा और दृश्य के भेद से रहित, कालातीत, चुनावरहित, सतर्क, जीवंत अनुभव ही कृष्णमूर्ति के लिए सत्य है। स्पष्ट है, सत्य, उनके लिए, स्थिर न होकर निरंतर परिवर्तनशील और प्रवाहमान है। इस स्थिति में परम्परा सत्य के संधाता के लिए अवरोध होगी। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति परम्परा का विरोध करते हैं।

आप्त वचनों तथा पोथियों की सत्ता :

हमारा मन आप्त वचनों तथा पोथियों की सत्ता से इतना प्रतिबद्ध हो गया है कि हम हर बात के लिए इन्हीं का प्रमाण देते हैं। अमुक बात बुद्ध, महावीर क्राईस्ट ने कही है अथवा अमुक बात गीता एवं कुरान के अनुकूल है, इसलिए उसे सत्य होना ही चाहिए, या अमुक बात गीता, बाइबिल अथवा नानक के वचनों के अनुकूल नहीं है इसलिये वह सत्य नहीं हो सकती, ऐसी धारणा वाला व्यक्ति कभी भी सत्य की खोज नहीं कर सकता। इसके विपरीत यह बात भी सत्य नहीं है कि अमुक बात शंकराचार्य ने कही है, या कुरान में लिखी है, इसलिए यह सत्य नहीं हो सकती। वास्तविकता यह है कि अप्रतिबद्ध मन से सत्य की खोज में जो अनुभव प्राप्त होता है, वह यदि गीता से मेल खाता है तो ही गीता सत्य है अन्यथा नहीं।

कृष्णमूर्ति जी सत्य के खोजी को "ज्ञात से मुक्ति" की शिक्षा देते हैं, अर्थात् सत्य के खोजी को अपने ज्ञान से मुक्त होना चाहिए। प्रश्न यह है कि सदियों से मनुष्य ने ज्ञान, विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में जो कुछ अनुभव संचित किया है, क्या मनुष्य जाति उसे भूल सकती है ? या उससे कभी मुक्त हो सकती है ? नहीं, कृष्णमूर्ति जी ऐसे ज्ञान से मुक्ति की बात नहीं कहते हैं, उनका कहना है कि इतिहास, भूगोल,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणित, विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान तो हमारे जीवन की परम आवश्यकता है, उसके बिना तो हमारा दैनिक कार्य चल ही नहीं सकता। सत्य के खोजी को अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान से मुक्ति की आवश्यकता होती है, तथ्यगत ज्ञान से नहीं। उदाहरण के लिए यदि हम किसी व्यक्ति को समझना चाहते हैं तो उसके संबंध में हमारा कोई भी पूर्व ज्ञान, उस व्यक्ति की वास्तविकता को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। यही बात सत्य पर भी लागू होती है। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी सत्यान्वेषी के लिए "ज्ञात से मुक्ति" पर विशेष बल देते हैं।

राजनैतिक सत्ता :

किसी समाज या राज्य की राजनैतिक सत्ता भी हमारी स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाती है, क्योंकि राजनीतिज्ञ अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए अनुशासन, सिद्धांत एवं राष्ट्रीयता के नाम पर मानवीय मन को प्रतिबद्ध करते रहते हैं। वह राजनीतिज्ञ ही हैं जो धर्म, देश, भाषा या जाति के आधार पर विभाजन पैदा करते हैं और व्यक्ति को व्यक्ति के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं। राजनैतिक सत्ता हमें यह नहीं सिखाती कि हम "कैसे सोचें" अपितु वह यह सिखाती है कि हम "क्या सोचें"। राजनैतिक सत्ता व्यक्ति की पूजा के लिए प्रेरित करती है और मनुष्य में हीन भावना उत्पन्न करती है। इस प्रकार सर्वसत्ता से मुक्त व्यक्ति ही सत्य की खोज कर सकता है।

जहाँ समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने भोजन, वस्त्र एवं आवास के अतिरिक्त अन्य दैनन्दिनी आवश्यकताओं के लिए एक दूसरे पर आश्रित होता है, ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव है कि कोई मनुष्य पूर्णरूपेण स्वतंत्र हो सकता है। एक मुक्त पुरुष भी अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए समाज पर ही आश्रित होता है। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप में समझनी आवश्यक है कि कृष्णमूर्ति जी जिस मुक्ति की बात करते हैं, वह मनोवैज्ञानिक सत्ता से मुक्ति है। निश्चित रूप से हम अपने भोजन के लिए किसान तथा रसोइयें, वस्त्र के लिए वस्त्र उत्पादक इकाइयों तथा ग्वाले, डाकिये सभी पर किसी न किसी प्रकार आश्रित होते हैं, इससे हम पूर्णरूपेण मुक्त नहीं हो सकते। यह तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक अन्योन्याश्रितता है, परन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से किसी पर भी आश्रित होना स्वतंत्रता के लिए एक खतरनाक मामला है।

स्वयं की मनोवैज्ञानिक स्थितियों का ज्ञान जिसे कृष्णमूर्ति जी "स्व ज्ञान" या "आत्म-ज्ञान" कहते हैं, उनकी शिक्षा का प्रारंभिक बिन्दु है। कृष्णमूर्ति जी उसी को शिक्षित मानते हैं जो स्वयं के बारे में जानता है अर्थात् वह "आत्मज्ञानी" है। भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा सभी तकनीकी ज्ञान हमें बाह्य जगत से संबंधित करता है। शारीरिक सुरक्षा के लिए यह ज्ञान आवश्यक है। इसके अभाव में हमारा बाह्य जीवन कठिन और असुरक्षित हो जाएगा। लेकिन आत्मज्ञान आन्तरिक जगत् की यात्रा का प्रारंभिक बिन्दु है। आत्मज्ञान की महत्ता को व्यक्त करते हुए कृष्णमूर्ति जी कहते है कि हमारी संपूर्ण शिक्षा का मूल उद्देश्य है "स्वयं को जानना"। इसके अभाव में शेष सभी जानकारियां, तत्संबंधी उपाधियां मूल्यहीन हैं। जब हम अस्तित्व के साथ अपने संबंधों के दर्पण में स्वयं को देखते हैं तो हमारे होने का पता चलता है, और होने का अर्थ है संबंधित होना। हमारा जीवन अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। पृथ्वी, सूर्य, चाँद-तारे, नदियाँ, पहाड़ सभी से हमारा संबंध है, इसके बिना हमारा कोई अस्तित्व नहीं हो सकता है।

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि "आत्म ज्ञान" में अखिल ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। प्रश्न यह है कि "आत्मज्ञान" में अखिल ब्रह्माण्ड कैसे समाया हुआ है? देखने में यह एक अतिशयोक्ति पूर्ण वाक्य है, पर बात ऐसी नहीं है। विज्ञान कहता है कि किसी तत्त्व का एक परमाणु उस तत्त्व की संपूर्ण गुणवत्ता से युक्त होता है, अतः उस तत्त्व के एक परमाणु के पूर्ण ज्ञान में उस तत्त्व का पूर्ण ज्ञान समाया हुआ है। इस-लिए ज्ञान की दृष्टि से उस तत्त्व के एक परमाणु में वह संपूर्ण तत्त्व समाया हुआ है। सोने के एक परमाणु की संपूर्ण गुणवत्ता की जान-कारी, संपूर्ण सोने की जानकारी है। अतः सोने के एक परमाणु में संपूर्ण सोना समाया हुआ है। इसी प्रकार स्वयं की सत्ता का बोध होते ही संपूर्ण सत्ता का बोध हो जाता है, क्योंकि संपूर्ण सत्ता व्यक्ति में सूक्ष्म रूप में समाहित है। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी "आत्मज्ञान"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विशेष बल देते हैं, और उसी में संपूर्ण मानवीय समस्याओं का हल देखते हैं।

ध्यान आत्मज्ञान का साधन है :

"आत्मज्ञान" के लिए "ध्यान की साधना आवश्यक है। ध्यान "आत्मज्ञान" का आरंभ है, ध्यान के माध्यम से ही "स्व" का ज्ञान आरंभ होता है। छात्रों एवं शिक्षकों के बीच शिक्षा संबंधी वार्ताओं में उन्हें ध्यान कराते हुए देखा गया है। कृष्णमूर्ति जी जिस ध्यान की बात करते हैं, वह परंपरागत ध्यान से बिल्कुल भिन्न है। परंपरागत ध्यान के वे विरोधी थे। उनका कहना है कि परंपरागत ध्यान बुद्धि को मन्द कर देता है तथा मन को यांत्रिक बना देता है। कृष्णमूर्ति जी के अनुसार ध्यान का अर्थ है बिना किसी प्रयत्न तथा बल प्रयोग किए, मन तथा मस्तिष्क को सर्वोच्च प्रज्ञा तक ले जाना। इससे व्यक्ति की संवेदनशीलता विकसित होती है तथा मन एवं मस्तिष्क बिल्कुल शांत एवं मौन हो जाता है। ध्यान का प्रारंभ तो किया जा सकता है, परन्तु इसका कोई अन्त नहीं है। कृष्णमूर्ति जी का ध्यान मन की एकाग्रता नहीं, अपितु चुनाव रहित सजगता है, जिसे अवधान कहा जाता है। एकाग्रता से ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जबकि अवधान से अवबोध होता है जो प्रज्ञा को जाग्रत करता है। इसीलिए कृष्णमूर्ति जी अवधान को बहुत महत्त्व देते हैं। गहन अवधान की अवस्था में ही यह ज्ञात होता है कि बाह्य एवं अभ्यन्तर में अभेद संबंध है अर्थात् द्रष्टा ही दृश्य है।

ध्यान एक ऐसा साधन हैं जिसके सहारे मनुष्य अपने मन के द्वन्द्वों, प्रति-बद्धताओं, महत्त्वाकांक्षाओं के साथ-साथ काम, क्रोध, लोभ तथा भय आदि सभी मानवीय समस्याओं की जड़ तक पहुँच कर उनका निराकरण करने में सहायता प्राप्त करता है तथा मन एवं हृदय के बीच सामंजस्य स्थापित करके संवेदनशीलता, करुणा, प्रेम जैसे मानवीय गुणों का विकास करता है। ध्यान के माध्यम से ध्यानी की दृष्टि इतनी पैनी एवं प्रखर हो जाती है कि वह किसी भी समस्या के मूल तक पहुँच कर तत्काल उसका समाधान ढूंढ़ लेता है। ध्यान एक ऐसी ज्योति है, जिसके प्रकाश में सभी कुछ स्पष्ट हो जाता है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्था में व्यक्ति का प्रत्येक कर्म सर्जनशीलता को जन्म देता है। ऐसे ही लोगों से मानवीय समस्याएँ हल हो सकती हैं तथा ऐसे ही लोग नूतन संस्कृति तथा नूतन विश्व का निर्माण कर सकते हैं।

शिक्षा के आधार :

कृष्णमूर्ति जी का शिक्षा-दर्शन, जिन आधारों पर खड़ा है, वे वर्तमान शिक्षा-पद्धति के आधारों से पूर्णतः भिन्न हैं। वर्तमान शिक्षा जिन आधारों पर खड़ी है, उनके कारण ही मानवता गंभीर समस्याओं से घिरी है। वर्तमान शिक्षा का आधार महत्त्वाकांक्षा, प्रतिस्पर्धा एवं प्रथम आने की होड़ है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का शत्रु बनता जा रहा है। राष्ट्रों के विभाजन राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद, भय एवं दमन की प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न होने वाली बुराइयाँ, हत्या एवं आत्महत्या इन सभी के लिए बहुत हद तक वर्तमान शिक्षा उत्तरदायी है। वर्तमान शिक्षा प्रज्ञा एवं बोध की जागृति और उसके विकास पर बहुत कम बल देती है। उसकी परीक्षा प्रणालियाँ स्मृति पर अधिक बल देती हैं। वर्तमान परीक्षा प्रणाली प्रतिभा के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है और बिना प्रतिभा के जीवन को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं समझा जा सकता। प्रचार माध्यमों के द्वारा कामुक एवं फूहड़ प्रदर्शन मासूम बच्चों को पथ-भ्रष्ट करने में अहं भूमिका निभा रहे हैं। समाज के तथाकथित पथ-प्रदर्शकों की दिनचर्या इतनी घिनौनी एवं हास्यास्पद बनती जा रही है कि वे स्वयं हीनाना प्रकार के दुःखों एवं मनोरोगों का शिकार होते जा रहे हैं। विश्व की जनसंख्या में होने वाली उत्तरोत्तर वृद्धि भी मानवीय समस्याओं का कारण बनती जा रही है। अकर्मण्यता असंवेदनशीलता एवं उपेक्षा के रवैये से उत्पादन एवं सर्जनशीलता में निरंतर ह्रास होता जा रहा है। वर्तमान शिक्षा के कारण ही मनुष्य का जीवन अस्वाभाविक होता जा रहा है। शिक्षा अपने मूल अर्थों से लगातार विचलित होती जा रही है। शिक्षा का मूल अर्थ है भीतर से बाहर लाना अर्थात् बालक के भीतर जो बीज छिपा है, उसका विकास करना। परन्तु आज की शिक्षा अपने मूल अर्थ से भटकती जा रही है। जिसमें शिक्षक होने की क्षमता का विकास होना चाहिए, वह राजनीति कर रहा है या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंजीनियर बन बैठा है; जिसे उद्योगपति होना चाहिए वह प्रधान मंत्री बन गया है। व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक विकास न होने के कारण उसके जीवन में गंभीर असंतोष एवं दुःख छाया हुआ है।

वर्तमान शिक्षा आदर्श, अनुशासन तथा संतोष पर विशेष बल देती है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि वास्तविक शिक्षा बालक को किसी आदर्श पर चलने के बजाय उसे सत्य की खोज के लिए प्रेरित करे, क्योंकि सत्य का खोजी स्वयं ही अपना आदर्श निर्मित कर लेता है। बने-बनाये आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालने वाला सदा द्वन्द्व में जीता है। वर्तमान शिक्षा अनुशासन अर्थात् किसी के निर्देशों के अनुसार बिना सोचे समझे चलने के लिए प्रेरित करती है जो बालक की बुद्धि को मन्द कर देती है। वास्तविक शिक्षा बालक को स्वयं की अपनी दृष्टि निर्मित करने के लिए प्रेरित करती है, क्योंकि स्वयं की दृष्टि से प्राप्त किया गया अनुशासन ही वास्तविक अनुशासन होता है, जो जीवन को द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है। तथाकथित अनुशासन अंधे की लाठी जैसा होता है जबकि वास्तविक अनुशासन आत्मबोध से प्राप्त प्रज्ञा चक्षु है। वर्तमाण शिक्षा संतोष एवं विश्वास का पाठ पढ़ाती है जिससे बालक में प्रकृति प्रदत्त जिज्ञासा का पुष्प बचपन में ही मुरझा जाता है, उसकी खोज की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, उसकी जीवन-ऊर्जा विध्वंसकारी प्रवृत्तियों की ओर बहने लगती है, जिससे समाज में अराजकता फैल जाती है। वास्तविक शिक्षा बालक में असंतोष एवं संदेह की प्रवृत्तियाँ बालक को सत्य की खोज के लिए प्रेरित करती हैं, जो सतत् गतिमान हैं। असंतोष एवं संदेह की प्रवृत्तियाँ जीवनपर्यन्त मनुष्य को जिज्ञासु बनाये रखती हैं और उसकी संपूर्ण जीवन-ऊर्जा सर्जनशीलता एवं रचनात्मक कार्यों में व्यय होती है। संतोष एवं विश्वास पर आधारित शिक्षा परंपराओं, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों को जन्म देती है, जिससे बालक में वास्तविकता के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं रह जाती तथा वह अधार्मिक तथा अवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है। वास्तविक शिक्षा परंपराओं से मुक्त होकर वास्तविकता की खोज के लिए प्रेरित करती है जिससे बालक में वास्तविक धार्मिक भावना एवं वैज्ञानिक मन का सृजन होता है, जो मन के अन्तर्विरोधों में सामंजस्य स्थापित करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षक, शिक्षार्थी एवं शिक्षण संस्थाएँ :

शिक्षा, दर्शन का गत्यात्मक पहलू होता है, अर्थात् दर्शन को मूर्त रूप देने वाली प्रक्रिया का नाम ही शिक्षा है, जिसमें शिक्षक, शिक्षार्थी एवं शिक्षण संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। शिक्षण संस्थाओं में कार्य करने वाले शिक्षक, शिक्षा की धुरी होते हैं। सही शिक्षा सही शिक्षक से ही आरंभ होती है। यदि शिक्षण संस्थाओं में कार्य करने वाले शिक्षक मात्र अपनी आजीविका के लिए ही संस्थाओं में आते हैं तो वे कभी भी छात्रों का ठीक ढंग से मार्गदर्शन नहीं कर सकते। यदि शिक्षक की मानसिकता स्वयं ही रुग्ण और प्रतिबद्ध है तथा वह तमाम मानसिक उलझनों के साथ बहुधंधी स्वभाव वाला व्यक्ति है तो वह बालकों को उचित ढंग से शिक्षित होने में कोई सहायता नहीं कर सकता। यदि शिक्षण संस्थाओं में शिक्षकों तथा प्रधानाचार्य के बीच का संबंध सौहार्दपूर्ण नहीं है, यदि वे परस्पर एक दूसरे से भयभीत हों और एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति रखते हों तो इससे शैक्षिक वातावरण प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यदि शिक्षकों के बीच विचारों एवं आदर्शों का अन्य किन्हीं कारणों को लेकर गुट-बाजियाँ चल रहीं हों तथा उनके बीच कार्यों का बँटवारा भी समुचित नहीं है, तो उनमें असंतोष की भावना जन्म लेती है और शिक्षण कार्य प्रभावित होता है।

शिक्षकों के बीच आपसी कठिनाइयों एवं भ्रान्तियों के कारण भी शिक्षा बाधित होती है। अतः शिक्षण संस्थाओं में कार्य करने वाले सभी लोग कभी-कभी एक साथ मिलकर आपसी कठिनाइयों एवं भ्रान्तियों का निवारण करते रहें तो इससे उनके बीच स्वस्थ मानसिकता बनती है और स्वस्थ शैक्षिक वातावरण तैयार होता है। बालक के मन पर उसके चारों ओर के वातावरण का सीधा प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावों और इसके वास्तविक मूल्यों को समझने में बालकों की सहायता करना शिक्षक का ही उत्तरदायित्व है। यह तभी सम्भव होगा जब शिक्षक स्वयं स्वयं भी इस कार्य में गहरी रुचि ले रहा हो तथा उसका मन सभी प्रतिबद्धताओं से पहले ही मुक्त हो चुका हो। शिक्षा एक महानतम पेशा है, जिसमें आधिपत्य एवं अधिकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावना रखने वाला शिक्षक अपने मूल उत्तरदायित्व से वंचित रह जायेगा। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि सही शिक्षक समाज में किसी प्रकार का अधिकार एवं शक्ति रखने की प्रवृत्तियों से दूर होता है, क्योंकि वह समाज के विधि-निषेधों एवं मान्यताओं के पार होता है।

सामान्यतया शिक्षक समाज का आदर्श होता है। परन्तु कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि एक सही शिक्षक बनने के लिए यह आवश्यक है कि छात्र उसे एक उदाहरण, एक आदर्श एवं एक अधिकारी न बना लें। सही शिक्षक व्यक्ति की पूर्णता तथा समन्वय के लिए समर्पित है, अतः वह गहरे अर्थों में सच्चा धार्मिक व्यक्ति होता है। यदि अध्यापक स्वयं ही किसी सम्प्रदाय, संगठित धर्म या क्रिया-काण्ड के घेरे में फँसा है तो वह निरपेक्ष रूप से शैक्षिक कार्य नहीं कर सकता।

शिक्षा का वास्तविक कार्य है सत्य की खोज करना। अतः छात्रों का यह दायित्व है कि वे मात्र पुस्तकों से सीखने या तथ्यों को कण्ठस्थ करने में ही अपना समय न लगावें, बल्कि यह समझने का भी प्रयास करें कि पुस्तकें जो कह रही हैं, उसे कैसे सुना जाय तथा उसमें जो लिखा है वह सत्य है अथवा असत्य। शिक्षार्थी को यह भी सीखना चाहिए कि बाह्य एवं अभ्यन्तर में जो कुछ घटित हो रहा है, उसका अवलोकन कैसे किया जाय। समष्टि के प्रति जागरूक रहना शिक्षित होने की आवश्यक शर्त है। छात्रों को चाहिए कि वे सतत् जागरूक होकर अप्रतिबद्ध मन से घटना का निरीक्षण करें। इसी से प्रज्ञा का प्रस्फुटन सम्भव है। सीखने के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है, परन्तु स्वतंत्रता बिना व्यवस्था के नहीं लायी जा सकती। आज्ञाकारिता एक प्रकार का भय है। जब मस्तिष्क आज्ञाकारिता के किसी विशेष प्रारूप के अनुसार कार्य करने लगता है तो वह मन की ताजगी एवं सरलता को नष्ट कर देता है, जो सीखने की आवश्यक शर्त है।

शिक्षण संस्थाएँ शिक्षा देने का व्यवस्थित स्थल हैं। शिक्षा में शिक्षण संस्थाओं की विशेष भूमिका होती है। उनके परिवेश पर्यावरण साथ-साथ उनका उद्देश्य भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि आज की शिक्षण संस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य है कि येन केन प्रकारेण छात्र उपाधियाँ प्राप्त करके अपनी आजीविका में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लग जाँय। चूँकि आज की विषम परिस्थिति में आजीविका आवश्यक है तथा अन्य चीजें गौण हो गई हैं, अतः शिक्षण संस्थाएँ भी तदनुरूप कार्य करने में लग गई हैं। परन्तु मनुष्य न तो पैसे से संतुष्ट हो सकता है, न ही मात्र रोटी से। आजीविका आवश्यक है, परन्तु पर्याप्त नहीं। अतः शिक्षण संस्थाओं का यह दायित्व है कि वे आजीविका के साथ-साथ वास्तविक जीवन-मूल्यों की खोज में बालक की सहायता करें। भय प्रतिस्पर्धा तथा प्रतियोगिता को बढ़ावा देने वाली शिक्षण संस्थाएँ कभी भी बालक का समग्रता में विकास नहीं कर सकतीं। मात्र स्मरण शक्ति को बढ़ावा देने वाली परीक्षा प्रणालियाँ भी बालक के प्रज्ञा प्रस्फुटन में बाधक सिद्ध हो रही हैं। कृष्णमूर्ति जी बड़ी शिक्षण संस्थाओं की अपेक्षा छोटी शिक्षण संस्थाओं को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि बालक-बालिकाओं की सीमित संख्या शिक्षक को बच्चों पर पूरा ध्यान देने में सहायक सिद्ध होती हैं। राज्य या संगठित धर्मों के अनुदानों पर चलने वाली शिक्षण संस्थाएँ बालकों पर अपने सिद्धान्तों तथा आदर्शों का बोझ डालती है, जो मन को प्रतिबद्ध करती हैं। ऐसी संस्थाएँ शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। यदि वास्तविक शिक्षक स्वयं के निवास पर छोटी शिक्षण संस्थाओं का संचालन करें तो ऐसी संस्थाएँ अधिक सीमा तक शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती हैं।

वर्तमान संकट एवं विश्व शांति :

कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि आज विश्व एक अभूतपूर्व संकट की घड़ी से गुजर रहा है। जनसंख्या में होने वाली उत्तरोत्तर वृद्धि, पर्यावरण की गम्भीर समस्या तथा विभिन्न वैचारिक सिद्धान्तों की टकराहट से यह संकट अभूतपूर्व होता जा रहा है। इतिहास के अनेक युगों में मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं राजनीतिक संकटों का सामना किया है, परन्तु वर्तमान संकट इसलिए अभूतपूर्व है कि अब हमारा संबंध अर्थ एवं मूर्त वस्तु से न होकर विचारों से होता जा रहा है। उदाहरण के लिए पहले हम व्यक्ति या समूह की हत्या करना पाप समझते थे, पर अब विचारों, धारणाओं और सिद्धान्तों के माध्यम से हत्या के औचित्य का समर्थन करते हुए उसे महिमा-मण्डित करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयास करने लगे हैं। आज हम वर्तमान को भविष्य की वेदी पर बलिदान करने को तैयार हैं। सशक्त प्रचार माध्यमों के जरिये बुराई के औचित्य समर्थन के लिए हमारे पास विचारों की शानदार प्रणालियाँ हैं, जो निश्चित ही इस संकट को अभूतपूर्व बना रही हैं। विज्ञान के आधुनिक विध्वंसकारी संसाधनों जैसे परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, न्यूट्रान बम के अतिरिक्त असाध्य रोगों के विषाणुओं में निरंतर होने वाली वृद्धि से मानव जीवन को और अधिक खतरा पैदा होता जा रहा है। अपवित्र विचार रखने वाले राजनीतिज्ञों से जिनके हाथ में सत्ता की बागडोर है, यह संकट और गहराता जा रहा है। यदि समय रहते मानवीय चेतना में एक मौलिक परिवर्तन नहीं लाया गया तो पृथ्वी पर जीवन का चिन्ह सदा के लिए मिट सकता है। सत्ता की अंधी दौड़ में लगे राजनेताओं के मन एवं हृदय में मानवता के प्रति प्रेम एवं करुणा का अभ्युदय नहीं हुआ तो संकट की गंभीरता अपनी चरम सीमा पर पहुँच सकती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा एवं उससे संलग्न लोगों ने अपनी वास्तविक भूमिका नहीं निभाई तो इस संकट से त्राण पाना संभव नहीं होगा।

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि ऐसी विषम परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन के द्वारा विश्व में सुख-शांति की स्थापना के लिए नूतन संस्कृति एवं नूतन विश्व की रचना आवश्यक हो गई है। मौलिक परिवर्तन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आपका कहना है कि यह मौलिक परिवर्तन एक सिद्धान्त को हटाकर दूसरे सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने या एक विचार प्रणाली को बदल कर दूसरी विचार प्रणाली का प्रचार करने से भी नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो प्रत्येक मनुष्य में एक ऐसी दृष्टि उत्पन्न करे जिसके द्वारा सत्य को सत्य की भाँति तथा मिथ्या को मिथ्या की भाँति स्वीकार किया जा सके, और अब तक जिसे सत्य कहा गया है, उसमें मिथ्या क्या है तथा जिसे अब तक मिथ्या कहा गया है, उसमें सत्य क्या है उसे भी स्वीकारा जा सके। इस बोध से ही मौलिक परिवर्तन संभव है जो वर्तमान संकट से मुक्ति दिलाकर विश्व-शांति स्थापित कर सकता है। विश्व शांति किसी विचार-प्रणाली या कानून का विषय नहीं है, अपितु यह मनुष्य के वर्तमान संबंधों के संदर्भ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिक परिवर्तन का विषय है। और ऐसा परिवर्तन मन-मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के अवबोध से ही फलीभूत हो सकता है। हमें बालक को ऐसा परिवेश देना होगा जिससे वह समस्त पूर्वाग्रहों एवं प्रतिबद्धताओं से मुक्त हो सके। शिक्षा के नाम पर बालक में असंतोष एवं संदेह की स्वाभाविक प्रवृत्ति को जब उपासना एवं अनुकरण की प्रवृत्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है तो मौलिक परिवर्तन की संभावना सदा के लिए समाप्त हो जाती है। जब तक शिक्षा धार्मिक एवं शासकीय नियंत्रण से मुक्त नहीं होती, तब तक बालक को सीखने का नवीन परिवेश नहीं मिल पाता। बालक को शिक्षित होने के लिए एक ऐसे परिवेश की आवश्यकता है जो उसे संवेदनशील तथा प्रज्ञापूर्ण बनने में उसकी सहायता करे, तभी उसके हृदय में प्रेम, करुणा और विनम्रता का आगमन होगा, तभी विश्व-शांन्ति संभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयनित पुस्तक-सूची

1. जे० कृष्णमूर्ति की पुस्तकें :

संस्कृत का प्रश्न : कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, राजघाट, फोर्ट, वाराणसी।

शिक्षा संवाद — वही
शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र — वही
ज्ञात से मुक्ति — वही
ध्यान — वही
गरुड़ की उड़ान — वही
हिंसा से परे — वही
शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व — वही
आमूल क्रान्ति की आवश्यकता — वही
वही आदमी सुखी है जो कुछ नहीं है — वही
परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है — वही
सीखने की कला — वही
प्रेम — वही
अंतरतर का सहज प्रस्फुटन — वही
जीवन की पुस्तक — वही
कृष्णमूर्ति नोटबुक — वही

कमेंट्रीज आन लिविंग : कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी।

कृष्णमूर्तीज नोटबुक — वही
लाईफ एहेड, — विक्टर गोलेंज

प्रथम और अंतिम मुक्ति : मोतीलाल, बनारसीदास, वाराणसी।

जीवन भाष्य (प्रथम खण्ड) : सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. **जे० कृष्णमूर्ति विषयक पुस्तकें :**

कृष्णमूर्ति—द इयर्स आफ अवेकेनिंग : मेरी लुटयेंस, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, मद्रास।
कृष्णमूर्ति—द इयर्स आफ फुलफिलमेंट : मेरी लुटयेंस, एवन बुक्स, न्यूयार्क।
जे० कृष्णमूर्ति : पुपुल जयकर, पेंग्विन बुक्स।
जे० कृष्णमूर्ति : रेने फाउरे, चेतना, बम्बई।
द माइण्ड आफ जे० कृष्णमूर्ति : संपादित—लुई एस० आर० वास, जैको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।
फिलोसोफी आफ जे० कृष्णमूर्ति : आर० के० श्रृंगी, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली।
वन थाउजैंस मून्स : एच० एन० अब्राम्स।
द ओपेन डोर : मेरी लुटयेंस, मुरे।

3. **सहायक पुस्तकें : (ओशो रजनीश की पुस्तकें)**

शिक्षा में क्रान्ति : रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०, 50 कोरेगाँव पार्क, पूना।
क्रान्तिनाद : रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा०लि०, 50 कोरेगाँव पार्क, पूना।
महागीता (अष्टावक्र) वही
गीता-दर्शन (कृष्ण) वही
कृष्ण मेरी दृष्टि में वही
कठोपनिषद् वही
ईशावास्योपनिषद् वही
आत्म-पूजा उपनिषद् वही
एस धम्मो सनंतनो (बुद्ध) वही
ताओ उपनिषद् (लाओत्से) वही
भज गोविन्दम्, (आदि शंकराचार्य) वही
समाधि के सप्त द्वार (ब्लावट्स्की) वही
रजनीश ध्यान योग वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगदर्शन पतंजलि) वही
क्रान्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया वही
मैं कौन हूँ वही
ज्योतिष अद्वैत का विज्ञान वही
रमण महर्षि : आर्थर आसबोर्न, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा ।

4. **पत्रिकाएँ :**

परिसंवाद : कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया ।
ओशो टाइम्स : ताओ पब्लिशिंग प्रा० लि०, पूना ।
ज्योति शिखा : साधना फाउण्डेशन, 17 कोरेगाँव पार्क, पूना ।
रजनीश दर्शन वही
संन्यास वही

103179

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Acc.		12/6
	R.E	19.6.99
	R.E	19.6.99
Filing		24.6.99
E A R		
Any other		19.6.99
Checked		

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

☆ मानव के अस्तित्व का केवल एक ही उद्देश्य है और वह है सत्य की खोज करना परमात्मा की खोज करना। यदि थोड़े से शिक्षकों का एक छोटा सा समुदाय भी इसे समझ ले और अपना समग्र ध्यान इस खोज में लगा दे तो वे एक नूतन शिक्षा का निर्माण करेगें और साथ ही साथ एकदम भिन्न समाज की सृष्टि भी होगी।

☆ भले ही आप विश्व की समस्त उपाधियाँ प्राप्त कर लें, लेकिन यदि आप अपने आप को नहीं जानते तो आप महामूढ़ व्यक्ति हैं। सम्पूर्ण शिक्षा का मूल उद्देश्य ही अपने आप को जानना है, आप भले ही बहुत सारी जानकारी इकट्ठा कर ले, बहुत सा पढ़ लिख ले, परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लें, परन्तु आत्मज्ञान की अनुपस्थिति में ये सब जीवन के ना समझी के रास्ते हैं।

☆ शिक्षा का कार्य आप को अपने अखण्ड जीवन को समझने में सहयोग करना है, केवल आजीविका के लिए तैयार करना अथवा आप की शादी, आपके बच्चे, आप का बीमा, आप की पूजाएँ, आप के छोटे-मोटे देवता आदि के परम्परा गत विषयों से आप को परिचित करा देना मात्र नहीं है। सही प्रकार की शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ी बुद्धिमानी और अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है और इसीलिए यह आवश्यक है कि शिक्षक जीवन की एक अखण्ड प्रक्रिया को समझने के लिए अपने आप को शिक्षित करें न कि वे केवल आप को किसी पुरानी या नई शैली के अनुसार मात्र पढ़ा दें।

☆ सत्य वह अनाम अनुभूति है जो अनुभव कर्त्ता की अनुपस्थिति में अनुभव की जाती है।

जे० कृष्णमूर्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar